वट से कोई सम्बन्ध नहीं है और यदि है भी तो बहुत ही थोड़ा।

"यह भली भांति समझ में आ सकता है कि इस दूसरी जाति के अक्षर ने उर्दू की पढ़ाई को कितना कठिन कर रक्खा है। कुछ आश्चर्य की बात नहीं है कि हमारी पाठशाला के बालकों को केवल शुद्धता पूर्वक पढ़ना सीखने में दो वर्ष लग जाते हैं। इसका बहुत बड़ा प्रभाव मुसलमानों की विद्या-सम्बन्धी उन्नति पर पड़ा है और पड़ रहा है। यदि ध्यान पूर्वक देखा जाय तो दूसरी जाति में इतनी अविज्ञता कदापि नहीं है जितनी मुसलमानों में। और पढ़े लिखे आदमियों की अधिक संख्या उन्हीं मुसलमानों में है जिन्होंने अपने को इस दूसरी जाति के अक्षरों के बन्धन से निर्मुक्त कर लिया है, अर्थात् सिंध, बम्बई बंगाल के मुसलमानों में, जो अपनी भाषा को सिंधी, गुजराती और बंगाली के आर्य अक्षरों में लिखते पढ़ते हैं।

"सारांश यह कि जिस भांति हमारा यह धर्म है कि हम अपनी भाषा को दूसरी भाषाओं के मेल से बचावें, उसी प्रकार हमारा यह भी धर्म है कि यदि हम इस दूसरी जाति के अक्षरों को बदल न सकें तो जहां तक हो सके उसकी कठिनाइयों को अवश्य कम कर दें।"

बिलग्रामी महाशय के इन वाक्यों से यह स्पष्ट है कि मुसलमानों में विद्या के अधिक प्रचार न होने का कारण यही है कि उनकी उर्दू भाषा, जिसकी उत्पत्ति आर्य भाषाओं से हुई है, अनार्य अक्षरों में लिखी जाती है। यदि आज नागरी अक्षरों का, जो आर्य है, उनमें प्रचार हो जाय तो इस अभाव की पूर्णतया पूर्त्ति हो जाय। वास्तव में यह बात ठीक है और हमारी प्रार्थना है कि इन प्रान्तों के मुसलमानगण इस सम्मति पर ध्यान दें, व्यर्थ के विरोध से दूर हटें और दो चार मनुष्यों के बहकाने में आकर अपने पैरों में आप कुल्हाड़ी न मारें। बिलग्रामी महाशय की इस उचित सम्मति के लिये सारा देश उनका कृतज्ञ है। निस्सन्देह योग्य पुरुषों की सम्मति सर्वदा गम्भीर और पक्षपात् शून्य होती है। ये महाशय अवश्य पूजने योग्य हैं। संसार में सदा ऐसे ही पुरुष पूज्य और स्मरणीय होते आए हैं और हमें आशा है कि ये महाशय अपने देश की वास्तविक सेवा सदा करते रहेंगे।

१९००

❀ ❀ ❀

आलोचक और आलोचना

राजा कमलानन्द सिंह

आजकल हिन्दी काव्य-आलोचकों की संख्या बहुत बढ़ चली है। प्रायः कोई ऐसा मासिक पत्र प्रकाशित नहीं होता जो "आलोचना" इस उत्तमोत्तम सारगर्भित शब्द से सुशोभित न पाया जाता हो। क्या यह हिन्दी साहित्य के लिये अल्प सौभाग्य की बात है! कोई कार्य क्यों न हो, आलोचना सभी के लिये आवश्यक है। यदि यथार्थ रीति से प्रत्येक विषय की समालोचना की जाय तो उसके द्वारा बहुत कुछ लाभ होना सम्भव है; क्योंकि आलोचना के बिना न तो किसी विषय की उपयोगिता हो सकती न उसकी निर्दोषिता और उसके गुरुत्व का सम्यक् बोध ही हो सकता है। मनुष्य कृत रचना में यदि किसी प्रकार की भूल रह गई हो, तो उसको युक्तितः सिद्ध करके प्रत्यक्ष बतला देना और तद्गत श्लाघ्य विषयों का उपपादन करना, यही आलोचना का मुख्य तात्पर्य है। (आ उपसर्गपूर्वक लोच् धातु से आलोचना शब्द बना है—आसमन्तात् लोचनं दर्शनमित्यालोचना; अर्थात् अच्छी भांति देखने को आलोचना कहते हैं)। अतएव किसी विषय की आलोचना का साहस करना साधारण बात नहीं है। जिस विषय का जो पूर्ण ज्ञाता नहीं है, वह उस विषय की समालोचना करने का अधिकारी क्योंकर हो सकता है। अतएव जिन महाशयों को आलोचक बनने की उत्कण्ठा हो, उन्हें प्रथम आलोच्य

विषयक पूर्ण पाण्डित्य प्राप्त कर लेना मुख्य साधन है। तत्पश्चात् वे आलोच्य विषय की आलोचना में अधिकार जमावें। परन्तु आलोचकों को इतना ध्यान रखना आवश्यक है कि, यदि द्रष्टव्य विषय की गुण गणना न कर दोष दिखलाने चले हैं, तो उत्तम रीति से जाँच के ही दोषोद्‌घाटन करें, क्योंकि अदोष पदार्थ में दोषारोपण करने से कदाचित आलोचकों ही का दृष्टिदोष गिना जाय; जैसे कोई किसी को ध्यान करते समय आंख मूंदे हुए देख बिना विचार किए ही चट उसे अन्धा कह कर पुकारने लग जाय, और कुछ काल के अनन्तर उसको आंखें खोलते हुए देख अपने दृष्टिदोष पर लज्जित हो समाज में दोषभाजन बन बैठे। समालोचकों को चाहिए कि आलोचना करने के समय अपनी दृष्टि को शुद्ध कर लें और किसी प्रकार की मलीनता उसमें न रहने दें; तब दृश्य पदार्थों के गुण दोषों की विवेचना करें, क्योंकि कभी-कभी अपने नेत्रदोष से भी पदार्थों पर दोषाध्यास होना सम्भव है। यह तो प्रत्यक्ष है कि जिनके नेत्र में पीलापन आ जाता है, तो वे विशद पदार्थ को भी पीत कह कर अपने नयनदोष का परिचय देने लगते हैं और सामाजिक लोग उनके कहे हुए को एक कौतुक मात्र समझते हैं। ऐसे ही शास्त्र रूपी चक्षु होते हुए भी जिनका ज्ञान-प्रदीप विषय-वायु से ताड़ित होकर लुप्त हो गया है, उनके अपने हृदयागारस्थ विवेकरत्न ही का प्रत्यक्ष होना कठिन है, फिर वे दूरदर्शी सूक्ष्म विषयों की आलोचना क्या करेंगे, और हठात् उनकी की हुई आलोचना सभ्य समाज में कैसे माननीय हो सकती है? शास्त्र परिनिष्ठित बुद्धि न होने के कारण ग्रन्थकर्ता के आशय को बिना समझे ही उसके सदर्थबोधक विषय में ोष दिखलाना मानो एक प्रकार से अपना उन्माद प्रकट करना है। यद्यपि बड़े से बड़े विद्वानों के कृत सिद्धान्त में कुछ भूल होनी सम्भव है, तथापि गुणदोषाध्यासक समालोचकों को इस बात का तर्क कर लेना आवश्यक है कि ग्रन्थकर्ता ने किस अभि-प्राय से किस प्रकरण में किस शब्द को किस अर्थ में प्रयुक्त किया है; तत्पश्चात् गुण दोष की विवेचना में हाथ डालना न्यायविरुद्ध न होगा। सारांश यह है कि बहुत से प्राचीन ग्रन्थान्तर्गत समीचीन विषयों का आशय अपनी अल्पज्ञता के कारण न जान पड़ने से उस सदुक्ति को अयुक्तितर कह कर इतर लोगों की बुद्धि को संशय में डाल देना कदापि समुचित नहीं। अस्तु, इस प्रस्ताव को यहां समाप्त कर प्रसंगवशात् काव्य लक्षण के विषय में कुछ अपना अभिप्राय प्रकाशित करना चाहता हूं; यद्यपि हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक पं० श्यामबिहारी मिश्र, एम० ए०, और पं० शुकदेवबिहारी मिश्र बी० ए० इस विषय का एक लेख "सरस्वती" के प्रथम भाग की द्वादश संख्या में लिख चुके हैं और स्वेच्छानुकूल हिन्दी काव्यगत कतिपय दूषणों को दिखला चुके हैं। यदि उक्त महाशयों की भांति निष्पक्ष-पात हो अपने विशद विचार के सहारे काव्यगत गुण-दोषों की समीक्षा की जाय, तो निस्सन्देह थोड़े ही दिनों में काव्य की अपूर्व योग्यतायुक्त शोभा झलक पड़ेगी।

उक्त हिन्दी काव्य के आलोचक महोदय लिखते हैं कि हमने भाषा काव्य प्रणाली के गुणों की कुछ भी विवेचना किए बिना केवल उसके दोषों पर ही विचार किया है। इस लेख के लिये वे पहिले ही क्षमाप्रार्थी हो चुके हैं। अस्तु, यह आलोचक की इच्छा पर निर्भर है कि प्रथम गुण गौरव की ओर दृष्टि न देकर दोषों ही का अनुशीलन करे। अच्छे आलोचक प्रायः पहिले दोषों ही का अनु-सन्धान करते हैं। किसी कवि ने भी कहा है "यस्य योऽस्ति हितप्रेप्सुः स तद्दोषं पुरः स्पृशेत्।" मिश्र जी महोदयों ने हिन्दी काव्यगत बहुत सी भूलें निकाली हैं, परन्तु मैं यह नहीं कह सकता कि उसमें कितनी भूलें ठीक हैं, क्योंकि उक्त महोदयों ने बाबू जगन्नाथदास बी० ए० (रत्नाकर) कृत काव्यलक्षण को खण्डन किया है, उसकी समीक्षा पं० किशोरीलाल गोस्वामी सरस्वती के द्वितीय भाग की प्रथम संख्या में प्रकाशित कर चुके हैं, जो मेरी समझ में भी युक्तियुक्त प्रतीत होती है। अनन्तर इसके सिरमौर और शशि भाल जी ने साहित्याचार्य पण्डित अम्बिका दत्त व्यास कृत काव्य लक्षण में अतिव्याप्ति दोष देकर निजकृत काव्यलक्षण में कुछ विलक्षण विचक्षणता प्रकट की है, अर्थात् पण्डितराज और रत्नाकर जी इन दोनों कवियों के कहे हुए लक्षणों को फेंट फांट कर अपना एक नवीन लक्षण बना लिया है और उसे ही काव्य का शुद्ध लक्षण मान लेना उचित समझा है।

अब व्यास जी लिखित लक्षण पर ध्यान दीजिए। उन्होंने अपनी गद्यकाव्यमीमांसा में काव्य का लक्षण यों लिखा है कि "लोकोत्तरानन्ददाता प्रबन्धः काव्य-नामभाक्। दृश्यं श्रव्यमिति द्वेधा तत्काव्यं परिकीर्त्तितम्॥"



महाराणा प्रतापसिंह

(चित्रकार—शम्भुनाथ मिश्र)



ताण्डव-नृत्य

(चित्रकार—नरेन्द्रनाथ मल्लिक)

मिश्र जी लिखते हैं कि प्रबन्ध शब्द अनेकार्थबोधक है। इसलिये ऐसे शब्द का प्रयोग किसी पदार्थ के लक्षण में करना ठीक नहीं। पाठकवृन्द! तब पदार्थ के लक्षण ही में क्यों वरं और और स्थान में भी अनेकार्थबोधक शब्द का प्रयोग न करना ही उत्तम होगा; क्योंकि यदि कोई "हरये नमः" कहै और कोई यही समझ ले कि इसने वानर को प्रणाम किया है, नमस्कर्ता का आशय भगवद्वन्दना ही का क्यों न हो। 'सैन्धवो धावति" इस वाक्य के सुनने से क्या किसी को लवण दौड़ने का भ्रम नहीं हो सकता? यदि कोई बोल उठै कि "पयो वर्षति", अवश्य ही किसी के मन में दूध का बरसना प्राकृतिक नियम के विरुद्ध सर्वथा असम्भव जान पड़ेगा। इसी प्रकार और भी जितने अनेकार्थ-वाची शब्द हैं, वे कितने मनुष्यों के लिए अवश्यमेव भ्रमोत्पादक हैं और ऐसे शब्दों का प्रयोग तो काव्य-लक्षण के लिये यथार्थ ही में भारी भ्रमोत्पादक है। इससे तो यही अच्छा होता कि अनेकार्थबोधक शब्दों के अन्यान्य अर्थों को उड़ाकर उनमें केवल एक ही अर्थ का समावेश रहने दिया जाता। ऐसे नियम के बर्ताव से विशेष लाभ तो यह होता कि कितने गम्भीर बुद्धिवाले विवेकियों को काव्य के लक्षणोपयोगी प्रबन्ध इत्यादि अनेकार्थबोधक शब्द में दोष, कपट, इन्तजाम आदि अनपेक्षित अर्थों का भ्रम होना कदापि सम्भव न होता।

उक्त महोदयों ने प्रबन्ध शब्द का अर्थ किया है "प्रकर्षेण वध्यत इति प्रबन्धः", और इसी धात्वर्थ पर आरूढ़ हो प्रबन्ध शब्द का अर्थ इन्तजाम आदि में सन्निवेशित किया है, इसमें कोई सन्देह नहीं। परन्तु यदि हम कोष की ओर दृष्टि न देकर शब्दार्थ विवेचना के लिये केवल व्याकरण ही का आश्रय लिया करें, तो बड़ा गड़-बड़ उपस्थित हो जायगा, क्योंकि ऐसे बहुत शब्द हैं जो व्याकरण की व्युत्पत्ति से और ही अर्थ बतलाते और कोष के द्वारा वे और ही अर्थ में व्यवहृत किए जाते हैं और सब कोई उसे सादर स्वीकार करते हैं। अब यदि मैं मिश्र जी की सम्मति से अनेकार्थबोधक शब्द का प्रयोग किसी पदार्थ के लक्षण में उचित न समझूं तो अभिधा शक्ति का सर्वनाश होना ही सम्भव है।

प्रबन्ध शब्द का अर्थ भले ही बहुत हो, परन्तु जब कोषकार ने ऐसा लिखा है कि "प्रबन्धो वाक्यविस्तरः" अर्थात् प्रबन्ध शब्द वाक्यविस्तर-बोधक है, तब जिस समुच्चय में लोकोत्तरानन्द दातृत्व है, वह निस्सन्देह काव्य है, जिसका समर्थन पं० किशोरीलाल गोस्वामी अपनी समीक्षा में भली भाँति कर चुके हैं। अतएव ऐसे स्थान में जहां कि काव्य-लक्षण के लिये प्रबन्ध शब्द का प्रयोग किया गया है, वहां प्रबन्ध का अर्थ बाजा बजाना, अथवा सेनाओं की व्यूह रचना मानकर लक्षण में अतिव्याप्ति दोष देना सर्वथा प्रकरणार्थविरुद्ध है। यदि उक्त लक्षण में प्रबन्ध का अर्थ वाक्यसमुच्चय न मान इनतिजाम ही आदि लेकर अतिव्याप्ति दोष दिया जाय, तो शिरमौर और शशिभाल जी ने जो अपना यह लक्षण लिखा है कि "वाक्य अर्थ वा एक हू जहँ रमणीय सुहोय—शिरमौर-ऽरु शशिभाल मत काव्य कहावै सोय।" इसमें रमणीय शब्द का अर्थ आप वही मानते हैं जो पं० जगन्नाथ कवि ने माना है, अर्थात् "रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनक-ज्ञानगोचरता।" यदि मैं भी इस समय मिश्र जी महोदय के दत्त नियमानुसार विशेषण रूप रमणीय शब्द का अर्थ रमणस्य भावः रमणीयः अथवा मन्तुं योग्यमिति रमणीयम् मान लूं और "तव पुत्रो जातः" इस वाक्य की रमणीयता पर काव्यत्व का होना स्थिर करूं, तो फिर मिश्र जी कृत काव्यलक्षण की अतिव्याप्ति बात बात में व्याप्त हो जायगी। अतएव मिश्र जी ने जो रमणीय शब्द का अर्थ अलौकिक हर्ष माना है, उचित समझा है। और इसी प्रकार व्यास जी ने जो प्रबन्ध शब्द का अर्थ कोषानुसार वाक्य-समुच्चय अर्थात् योग्यताकांक्षासक्तियुक्त पदोच्चय रक्खा है, बहुत ठीक है; और यह लक्षण रत्नाकर जी के इस लक्षण से कि "होय वाक्य रमणीय जो काव्य कहावै सोय," मिल जाता है, क्योंकि रत्नाकर जी ने भी रमणीय का अर्थ लोकोत्तरानन्द ही माना है और इस लक्षण का शुद्ध होना पं० किशोरीलाल गोस्वामी ने युक्तिपूर्वक बतलाया है।

इसके अनन्तर मिश्र जी महोदय दृश्य काव्य का अभिप्राय और तत्प्रयुक्त भावार्थ समझ जाने पर भी दृश्य शब्द को वाच्यार्थ में परिगणित कर धोखे में आ गए। जब तक हम लोग केवल धात्वर्थ ही की ओर दृष्टि फैलाते रहेंगे, तब तक ग्रन्थकर्त्ता के आशय समझने में इसी प्रकार अवश्य ही कोलाहल होता रहेगा। इसीलिये साहित्यकार ने लिखा है कि अर्थो वाच्यश्च व्यंग्यश्च लक्ष्यश्चेति त्रिधा मतः। व्यंग्यो व्यञ्जनयाताः स्युस्तिस्रः शब्दस्य शक्तयः।

इत्यादि। और काव्य के जो दो भेद व्यास जी ने माने हैं, बहुत ठीक हैं। साहित्यदर्पणकार ने भी षष्ठ परिच्छेद की द्वितीय कारिका में लिखा है कि "दृश्यश्रव्यत्वभेदेन पुनः काव्यं द्विधा मतम्। दृश्यं तत्राभिनेयं तदित्यादयः।

दृश्य काव्य के विषय में मुझे और कुछ लिखना शेष रह गया है, जो अवकाश पाने पर फिर किसी दूसरी संख्या में लिखकर प्रकाशित करूंगा। अब विशेषतः मेरी प्रार्थना यह है कि इस लेख में यदि मैंने भ्रमात् कुछ असंगत बातें लिखी हों तो पाठकवृन्द उसे क्षमा करेंगे। किमधिकमिति शम्॥

१९०१

❀ ❀ ❀

चीनी तुर्किस्तान

पं० रामनारायण मिश्र

काश्मीर से उत्तर-पश्चिम की ओर प्रकृति की शोभा निराली ही है। प्रकृतिदेवी के अनुपम सुन्दर स्वरूप से आह्लादित होकर यात्री जिस समय उत्तर की ओर जाता है तो उसे कहीं तो दुर्गम मार्ग, कहीं अति वेगवान नद और नाले और कहीं दीवार की भांति खड़े पहाड़ मिलते हैं, जिन्हें देख कर यह प्रतीत होता है कि मनुष्य के भौगोलिक ज्ञान की यहीं सीमा है। समुद्र से बारह और चौदह हजार फीट ऊंचे त्रगबल और वॅजिल पास हैं। उनके परे भयानक घाटियां और सिन्ध नदी है। सिन्ध का वेग यहां ऐसा तीव्र है कि कोसों तक कोई नाव नहीं मिलती और यदि कोई साहसी नाव ले भी जाय तो केवल इस बात की शिक्षा देने के लिए कि साहस का भी कहीं अन्त है: पर विद्यारसिक को संसार की कोई भी कठिनाई उसके उद्देश्य में सफलीभूत होने से नहीं रोक सकती। नैनसन की तत्परता के आगे उत्तरीय प्रान्त की बारह महीने रहनेवाली बरफ को भी हार माननी पड़ी। कई बेर हतोत्साह होने पर भी क्रिस्टोफर कोलम्बस ने अपने उद्देश्य को न तो मार्ग की कठिनाई के कारण और न उन पशुसमान भयानक नरभक्षी जातियों के कठोर आक्रमणों के कारण छोड़ दिया। हम भी आज एक इस समय के कोलम्बस की यात्रा का बहुत ही संक्षिप्त वर्णन करेंगे कि जिसने एक ऐसे देश में जो वर्तमान समय में असभ्य जातियों का निवासस्थान है, प्राचीन, मनोहर सभ्यता का अनुसन्धान किया है।

डाक्टर स्टाइन आज कल पंजाब में स्कूलों के इन्स्पेक्टर हैं। उन्हें पुरातत्व सम्बन्धी विषयों में बड़ा अनुराग है। उन्होंने संस्कृत के वृहत् और एकमात्र काश्मीर इतिहास राजतरंगिणी का अंगरेजी अनुवाद किया है। जिस समय वे उसका उल्था कर रहे थे, वे स्वयं काश्मीर गए और वहां उनसे काश्मीर के असिस्टेंट रजिडण्ट से मिलाप हुआ। उन्होंने स्टाइन साहब से चीनी तुर्किस्तान में प्राचीन लिपि, गृह और तसवीरें इत्यादि के कहीं-कहीं मिलने का समाचार कहा। इसी समय डाक्टर होरनले ने एशियाटिक सोसाइटी के जर्नल में चीनी-तुर्किस्तान की प्राचीन ऐतिहासिक सामग्री पर एक बड़ा लेख लिखा। इसके पूर्व कई रूसी यात्री इस प्रान्त में यात्रा करते हुए प्राचीन बहुमूल्य पदार्थ ले आए थे। वहां के मुसलमानों ने जब देखा कि फरंगी लोग हमेशा प्राचीन पुस्तकें इत्यादि ढूंढ़ा करते हैं तो वे बनावटी पुस्तकें जिन पर विचित्र अक्षर खुदे हुए हों, साहब लोगों के हाथ बेच कर रुपया कमाने लगे। ऐसे ठगों का एक दल हो गया जिनके सरदार इसलाम आखूं का नाम बहुत विख्यात है। डाक्टर होरनले के लेख और तसवीरों में इसकी दी हुई अधिक सामग्री है और डा० होरनले को धूर्त पर श्रद्धा भी थी। यह धूर्त दो-एक सच्ची वस्तुओं के साथ बनावटी झूठे पदार्थ ऐसी चालाकी से दे दिया करता था कि सब लोगों को इसकी सच्चाई पर विश्वास था। पर जब डाक्टर स्टाइन ने (जो केवल इस प्रान्त के पुरातत्व सम्बन्धी अनु-

सन्धान ही के उद्देश्य से गए थे) विशेष छान-बीन की तो इस इसलाम आखूं की पोल खुल गई। स्टाइन ने इसको अपने सामने बुला के ऐसे टेढ़े प्रश्न पूछे कि इन्हें स्वयं अपना भेद खोलना पड़ा। भारतवर्षीय इतिहासज्ञ लोगों को मालूम होगा कि सेण्ट जेवियर पादरी के साथ यहां के पण्डितों ने भी ऐसा ही किया था। जब उन्होंने वेद मांगे तो पण्डितों ने कोई माहात्म्य उठा कर दे दिया और सैकड़ों रुपए झस लिये। इसलाम आखूं से जिस प्रकार साहब ने सब कबूल करवा लिया वह जानने योग्य है, पर उन्होंने उसे बड़ी रिपोर्ट में लिखने का वादा किया है। इस धूर्त यवन का यह नियम था कि वह साधारण देशी कागज को, जो खुतन नगर में बनता है, एक प्रकार की गोंद में रंग के धुएं में लटका देता था, जिसमें यह धोखा हो कि कोई प्राचीन लिपि है। अब इस पर खुदे हुए ब्लौक से जो उसने बनवा रक्खे थे, प्राचीन भाषा ब्राह्मी अथवा खरोष्ठी के अक्षर छाप देता था और एक पुस्तक बनवाकर उसके पत्रों में बालू छोड़ देता था, जिसमें यह मालूम हो कि पुस्तक गड़ी हुई मिली है। परन्तु डाक्टर स्टाइन ने एक सहल उपाय इनके जाली सिद्ध करने का किया। जिस गोंद में यह कागज रंगा जाता था वह पानी में घुल जाती है, इस कारण गीला हाथ लगते ही उसका रंग बदलने लगता था। इसके विरुद्ध जो सचमुच प्राचीन लिपियां थीं उन पर पानी का इतनी जल्द कुछ भी असर नहीं होता था।

निदान जिस देश में जाने के लिये इतनी कठिनाइयां थीं और जिस स्थान में प्राचीन पदार्थों के संग्रह होने की ऐसी सम्भावना थी, वहां जाने के लिये स्टाइन साहब उत्सुक थे। उन्होंने अपनी इच्छा डाक्टर होरनले पर प्रकट की, जिन्होंने तुरन्त भारतवर्षीय सरकार से इनकी प्रार्थना स्वीकार करायी और इनको इंडिया और पंजाब की गवर्नमेण्ट ने मिलकर ९ हजार रुपया व्यय के हेतु दिया और चीनी राज्य में जाने के लिये पास दिलवाया। सर्वे (नाप) विभाग से एक आदमी इनकी सहायता के लिये और कुछ बन्दूकें भी इनको मिलीं। २९ मई स० १९०० को साहब श्रीनगर से गिलगिट की ओर रवाना हुए। यहां इन्हें एक गहरी और खड़ी चट्टान में एक बुद्ध की मूर्ति खुदी हुई मिली। चीनी यात्रियों ने "पोलियो" प्रदेश का वर्णन किया है। अब लों इस स्थान का ठीक पता नहीं मिला था, परन्तु "स्कारदो" में साहब ने वहां के निवासियों को "पोलियो" कहते हुए सुना। इससे प्रतीत होता है कि "स्कारदो" का प्राचीन नाम पोलियो रहा होगा। गिलगिट से हुंजा गए। रास्ते में उन्हें हिमालय की अद्भुत और मोहिनी छटा के दर्शन मिले। यहां से थोल गए। इस स्थान में २० फीट का एक प्राचीन बौद्ध स्तूप देखा जिसकी कुर्सी पक्की थी। यहां से पामीर गए। वहां के लोग जो दस वर्ष पूर्व ऐसे भयानक थे, अब सभ्य हो चले हैं। साहब ने इसे भाषाओं का अजायबघर कहा है, क्योंकि यहां बहुत सी भाषाएं बोली जाती हैं। इसके परे खुतन प्रान्त है। यहां कोहमारी में एक बौद्ध मन्दिर है, जिसका नाम ह्यानसांग ने गोश्रृंग लिखा है। इस स्थान में अब एक मुसलमानी मजार है। एक गुफा भी यहां है जहां से ऐसा कहते हैं कि ग्रिनार्ड और डिट्रियल डिरिंस को प्राचीन ग्रंथ मिले थे।

खुतन एक मरुस्थल है। इसमें थोड़ी दूर तक उपजाऊ भूमि भी मिलती है। इसमें बहुत से सिक्के, मोहरें पाई जाती हैं। इसमें स्टाइन साहब को मिट्टी के बर्तन मिले जिन पर बड़ा सुन्दर रंग दिया हुआ था। एक घड़े पर एक बन्दर बैठा सितार बजा रहा है। दूसरे पर एक गौ की मूर्ति है। दो एक बुद्ध अथवा बैरागियों की मूर्तियां भी मिलीं। यहां इन्हें कोई प्राचीन मकान नहीं मिला। इसका कारण पत्थर का न होना है। क्योंकि जिस स्थान पर ऐसी सभ्यतासूचक वस्तुएं मिलें वहां मकान का अभाव असम्भव है। मालूम होता है कि यहां लकड़ी के मकान थे जो जल में समय पाकर गल गये हैं। यहां पर नालों में लोग सोना जमा किया करते हैं और इन प्राचीन वस्तुओं के अनुसन्धान का प्रारम्भ सोने ही के लालच का परिणाम है। यह प्रश्न बड़ा रोचक है कि इस निर्जन स्थान में सोना कहां से आया। साहब ने इस सोने को लेकर जांचा। मालूम हुआ कि यह सोने का पत्र है। पाठकों पर यह विदित कर देना उचित है कि जिस मार्ग से साहब यात्रा कर रहे थे उसी स्थान से फाहियान और ह्यानसांग भी गए थे। इसी स्थान का वर्णन पढ़ते हुए "सयकी" अर्थात् इन चीनी यात्रियों की कथा में उन्हें मिला कि यहां उनके समय में बौद्ध मन्दिर और मठ थे जिनमें बुद्धदेव की स्वर्ण मूर्तियां थीं और मन्दिरों की भीत पर सोने के पत्र मढ़े थे। क्या आश्चर्य है कि उस खण्डहर में से

बहता हुआ पानी उन स्वर्णकणों को अपने साथ बहा लाता हो कि जो मूर्तियों और भीतों को सुसज्जित करते थे। यहां प्राचीन स्तूपों के चिह्न जगह जगह मिलते हैं, पर मुसलमानों ने उन सबको अपनी जियारतगाहें बना लिया है।

यहां से आगे बढ़कर साहब दन्दान उल्लीक़ स्थान में गए। इस शब्द का अर्थ है "हाथीदांत के घर।" यहां इनको बड़ी प्राचीन और रोचक वस्तुएं मिलीं। एक मकान खुदवाने पर उसमें लकड़ी का सामान, दीवारों पर बुद्ध की मूर्तियां और छोटी-छोटी मूर्तियां जो दीवारों से उखड़ कर गिर पड़ी थीं, मिलीं। साहब इनमें से कुछ अपने साथ ले आए हैं। इन दीवारों पर एक विशेष प्रकार का सुन्दर प्लस्तर है। यहां पर एक मूर्ति इन्हें मिली जिसका शरीर किसी देवता का मालूम होता है, परन्तु सिर चूहे का है। ह्यानसांग ने लिखा है कि खुतन के निकटवर्ती स्थानों में चूहे की पूजा होती थी। तसवीरों के रंग पर बालू का असर स्पष्ट मालूम होता है। इन्हीं खण्डहरों में प्राचीन हस्तलिपियां भी प्राप्त हुईं जिनका सविस्तर वर्णन साहब अपनी बड़ी रिपोर्ट में करेंगे। एक प्रकार की काठ की पुस्तकें यहां मिलीं। यह हिन्दुस्तानी पट्टी की तरह से है।

इसके और परे नीया नदी के तट पर कई प्राचीन गृह खोदे गए। यहां साहब को एक प्राचीन समय की दरी मिली और इनकी कोठरियों को देख कर यह मालूम हो जाता है कि उस समय में लोगों का रहन सहन कैसा था, मिलने वाले कमरे में लोग कैसी वस्तुएं रक्खा करते थे। साहब को यहां एक कलम मिली जिस पर हड्डी का मुट्ठा है। प्राचीन जातियों की विद्यावृद्धि का ज्ञान प्राचीन लिपियों से होता है। यहां कागज पर लिपियां बहुत कम मिलती हैं। दो तखतियां लेकर जो कुछ लिखना चाहा वह पहिले एक पर फिर उसी के सम्बन्ध में दूसरे पर लिखकर तखतियों को बन्द कर देते थे। किसी-किसी तख्ती में चमड़े के तस्मे मिलते हैं जो छेद में खोंसे हुए हैं, जिनसे ये तख्तियाँ बांधी जाती थीं। इनमें विषय धार्मिक नहीं है, वरंच सामाजिक पत्रव्यवहार। जैसे काश्मीर की प्राचीन लिपियों पर, यद्यपि वे ब्राह्मणों की संग्रह की हुई हैं, चमड़े की जिलदें मिलती हैं, उसी प्रकार यहां तख्ती के बदले चमड़े पर लिखे हुए अक्षर मिले हैं। यह चमड़ा अब सिमट गया है, परन्तु इसको फैलाने से इस पर लिखे हुए अक्षर पढ़े जा सकते हैं। इन लिपियों के अक्षर खरोष्टी, ब्राह्मी, पाली और संस्कृत हैं। कागज की लिपियों पर विषय बौद्धधर्म है और काठ की तख्तियों पर सरकारी अथवा किसी पुरुष-विशेष का पत्रव्यवहार है। इन कोठरियों में से एक जगह एक काठ की टूटी हुई कुर्सी भी मिली है जिस पर बड़ी सुन्दर नकाशी है।

इसके परे "इन्दोर", "कारडौंग" इत्यादि स्थानों में भी इसी प्रकार की वस्तुएं मिलीं। साहब को जिस सिलसिले तरतीब से ये प्राचीन वस्तुएं मिलीं, उसी तरह नम्बर देकर उन्होंने उन्हें अपने साथ रख लिया है, जिसमें उनके समय का निर्णय करने में सुगमता हो। अपनी बड़ी रिपोर्ट में साहब प्रत्येक लिपि के समय का निर्णय करेंगे। कहीं-कहीं उन्होंने इस छोटे वृत्तान्त में भी संकेतमात्र दे दिया है। उदाहरण के हेतु इतना लिख दिया जाता है कि इन लिपियों में "य" अक्षर "ꣻ" लिखा है जिससे उसका समय सातवीं शताब्दी सन् ईसवी निश्चय होता है और सिक्कों में सबसे पीछे के आठवीं शताब्दी के मिलते हैं। इन स्थानों की सभ्यता और समय में भिन्नता है, जिसका बड़ी रिपोर्ट में पृथक् वर्णन होगा। कारदंग में साहब को सूखी गाजर, कई प्रकार की दाल इत्यादि खाने के पदार्थ मिले।

काशगर बहुत ही प्रसिद्ध स्थान है। चीनी यात्रियों को यहां सैकड़ों स्तूप मिले थे, परन्तु हमारे योरोपियन यात्री को केवल एक ही स्तूप मिला जिसमें मुसलमानों ने कबरें बना ली हैं। इसका रंग अभी फीका पड़ गया है, अब दुरुस्त नहीं हो सकता। पुराने स्तूपों के खण्डहर अबलों विद्यमान हैं। इस स्थान को लोग "कोनह शहर" (प्राचीन नगर) कहते हैं।

यों तो सरकार अंगरेजी के प्रभाव से जहां-जहां साहब बहादुर गए, इन्हें चीनी राज्य के मजिस्ट्रेट (अम्बान) लोगों ने पूरी सहायता दी। मजदूर, भोजन के पदार्थ, चौकीदार इत्यादि बराबर मिलते गए, परन्तु विदेश में इन वस्तुओं के अतिरिक्त यदि किसी प्रकार उस प्रान्त के निवासियों की सहायता और सहानुभूति का लाभ भी मिल जाय तो सोने में सुगन्ध है। पाठकों को आश्चर्य होगा कि जिस जिस स्थान पर यह जाकर चीनी यात्रियों का नाम लेते थे और उनसे यह कहते थे कि मैं भी उन्हीं

स्थानों में भ्रमण कर रहा हूँ जहां उनके चरण पड़े थे और इसके साथ ही भारतवर्ष और मध्य एशिया के प्राचीन सम्बन्ध को उन पर प्रकट करते तो वे लोग साहब का बड़ा सम्मान करते थे।

इन सब स्थानों में भ्रमण करते और सामग्री जमा करते हुए २९ मई को साहब १२ बड़े बड़े बक्स इन सामग्रियों से भर कर ट्रान्स-केस्पियन रेलवे से होते हुए, जिसकी आज्ञा उन्होंने मंगा ली थी, लन्दन की ओर पधारे। उनके साथी भारतवर्ष की ओर लौटे जिनमें से सब-सरवेयर रामसिंह के उत्साह, व्युत्पत्ति, परिश्रम और सुशीलता की साहब ने बड़ी प्रशंसा की है। हमें तो सब-सरवेयर रामसिंह के दर्शनों की इच्छा होती है।

लन्दन पहुँचने पर साहब को छः सप्ताह लन्दन में रहने की आज्ञा मिली और इतने समय में उन्होंने अपनी वस्तुओं की सूची बना कर उसे विख्यात अजायबखाने अर्थात् बृटिश म्यूजियम में रखवा दिया। अब फिर भारतीय गवर्नमेण्ट ने स्टाइन साहब को १८ महीने लन्दन में रहने की आज्ञा दी है, जिसमें वे पूरी रिपोर्ट तैयार कर सरकार की सेवा में प्रकाश करने के हेतु दें। धन्य हैं स्टाइन साहब और धन्य अंगरेजी सरकार!

अब एक बात और कह कर हम इस लेख को समाप्त करते हैं। यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि यह प्राचीन सभ्यता जिसकी सामग्री स्टाइन साहब को प्राप्त हुई, किस जाति की है और इतिहास इस पर चुप क्यों है। तिब्बत के एक ग्रन्थ में लिखा है जिसको रोकहिल ने अपने रचे "बुद्ध के जीवनचरित्र" में उद्धृत किया है कि तक्षिला के निवासियों को अशोक ने हिमालय के उत्तरी प्रान्तों में निकाल दिया था। इस कथा का वर्णन ह्यानसांग ने भी किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि वर्तमान चीनी तुर्किस्तान में यही जाति जाकर बसी। यह बात नीचे लिखे प्रमाणों से दृढ़ हो जाती है।

(१) अशोक के पीछे के शिलालेखों में अधिकांश का विषय सामाजिक है—धार्मिक नहीं। इस प्रान्त की तख़तियों में भी पत्रव्यवहार ही मिले हैं। पंजाब में भी अशोक के पीछे के ग्रन्थ ऐसे ही मिले हैं। (२) जैसे सिक्के तक्षिला में मिलते हैं, बनावट में उसी प्रकार के चीनी-तुर्किस्तान में भी मिले हैं। (३) तक्षिला में भी खरोष्टी अक्षरों का प्रयोग होता था, यहां भी उन्हीं का था।

१९०२

❀ ❀ ❀

लाला हंसराज जी, बी० ए०

लाला लाजपत राय

पाठक! इस अंक में हम आपकी सेवा में एक सच्चे पुरुष का चित्र अर्पण करते हैं। लाला हंसराजजी उन पुरुषों में से हैं, जो आजकल के गए गुजरे समय में भी हमारी जाति के भूषण हैं; जिनके सद्भाव से हमको आशा होती है, कि हिन्दू जाति अभी बिल्कुल मृत्यु को नहीं प्राप्त हुई। किसी जाति के जीवित जाग्रत रहने का बड़ा चिह्न यह होता है, कि वह समय-समय पर इस प्रकार के पुत्र उत्पन्न करे जो अपने आपको जाति की सेवा के अग्निकुण्ड में आहुति कर दें; जो अपना सर्वस्व ही अपनी जाति के ऊपर निछावर कर दें। इस समय भी हमारे देश में विद्वान्, कवि, गणितविद्या के जाननेवाले, वैयाकरण और मीमांसक आदि बहुत ; धनाढ्य पुरुष भी बहुत हैं; राजे महाराजे भी अनेक हैं; सरकारी टाइटलवाले महाशय तो गली-गली कूचे-कूचे में हैं; प्रिन्सिपल और प्रोफेसर भी अधिक हैं; प्रधान और मन्त्री भी बहुत हैं; परन्तु ऐसे सज्जन बहुत कम हैं, जिनमें हमको जाति की प्रीति उस अंश तक दिखाई देवे जिससे हम उनको पूर्ण देशहितैषी कह सकें। इसमें सन्देह नहीं कि, इस समय देश में चारों ओर से देशहित का कोलाहल हो रहा है और कुछ न कुछ देशहित प्रतीत भी होता है। पर तो

भी सच्चे देशहितैषी बहुत कम हैं। जितने हैं उनमें से लाला हंसराजजी बड़े उच्च श्रेणी के हैं और उस श्रेणी में भी बड़े उच्च पद के योग्य हैं। सच तो यह है, कि हमको सारे देश में सिवाय दो तीन पुरुषों के कोई भी ऐसा भारतवासी नहीं जान पड़ता जिसके जाति-सेवा के भाव को हम लाला हंसराज के मनोभाव से तुलना दे सकें। शायद अभी योग्य समय नहीं आया कि हम लालाजी का जीवन-चरित्र लिखने का उद्योग करें, तो भी आपको संक्षेप में उनका काम बता देना लाभ से खाली न होगा।

सारे देश में शायद ही कोई पढ़ा-लिखा पुरुष होगा, जो यह न जानता हो कि लाला हंसराजजी लाहौर के दयानन्द एंगलो वैदिक कालेज के आनरेरी प्रिन्सिपल हैं। सन् १८८६ ई० से लेकर इस समय तक वे इस पर नियत हैं और आज तक एक पैसा उन्होंने वेतन का नहीं लिया। इस गिरे हुए देश में और फिर इस अधोगति को प्राप्त हुई जाति में आजकल के समय में यह शायद पहिला ही उदाहरण है जिसमें एक ऐसे ऊंचे दर्जे की अंगरेजी शिक्षा और डिगरी पाये हुए युवक ने अपने जीवन को इस प्रकार विद्यावृद्धि और धर्म-प्रचार के काम पर निछावर किया हो। लाला हंसराजजी ने सन् १८८५ ई० में पंजाब युनीवर्सिटी की बी० ए० परीक्षा पास की और सारे प्रान्त में दूसरे पद पर रहे। प्रथम पद पर उनके मित्र और पंजाब के भूषण पं० गुरुदत्तजी थे। पं० गुरुदत्त और लाला हंसराजजी में विद्यार्थी अवस्था में अत्यन्त प्रेम था। पण्डितजी को लालाजी की गम्भीरता, उनके देशहितजनक विचार और उनकी विज्ञता पर बड़ा विश्वास था और धर्म-प्रचार और देशहित के विचारों में वे दोनों प्रायः सहमत थे। मुझको भी इन दिनों में इन दोनों भद्र पुरुषों से प्रेम रखने का गौरव प्राप्त था, क्योंकि मैं भी उसी श्रेणी में पढ़ता था। लाला हंसराजजी के पिता उनकी बाल्या-वस्था ही में परलोक सिधार गए थे और इसलिए कुटुम्ब का सारा भार उनके बड़े भ्राता लाला मुलकराज भल्ला की कमाई पर था जो अब तक चला आता है। ऐसा मालूम होता है कि इन दोनों भाइयों ने पहिले ही से यह निश्चय कर लिया था कि एक भाई तो धन कमावे और दूसरा भाई देश की सेवा करे। वह विचार भी प्रगट करता है कि इन दोनों भाइयों के हृदयों में देशसेवा की अग्नि कैसी प्रज्वलित है। और यदि लाला मुलकराजजी अपने देश की सेवा के लिए और कुछ भी न करते, केवल इतना ही पर्याप्त समझते, तौ भी उनकी देशहितैषिता उस उच्च कक्षा की होती कि दूसरों के लिए उदाहरण बनती। परन्तु लाला मुलकराज का जातिहित इससे भी बहुत अधिक विशाल है। वे सचमुच उन पुरुषों में से हैं जिनके हृदय में जाति-सेवा की अग्नि प्रबल वेग से जल रही है और लोक की शेष सारी कामनाओं को फूंककर राख बना रही है। उनके लेख इस बात की पूर्ण साक्षी देते हैं। पर सच तो यह है कि उनका जाति-प्रेम लेख में भी नहीं आ सकता, उसको तो थोड़ा सा वही मनुष्य अनुभव कर सकता है जिसको कुछ समय उनके चरणों में व्यतीत करने का अवसर मिले। लाला मुलकराजजी भल्ला सरकारी नौकर हैं। रेलवे में अकौण्टेण्ट हैं। इस समय उनको दो सौ रुपये से अधिक वेतन मिलता है। पर जिस समय लाला हंसराजजी कालेज में पढ़ते थे, उनकी आमदनी बहुत कम थी।

भारतवर्ष में अनेक धर्म्म माने जाते हैं। हिन्दू, मुसलमान, जैन, आर्य्यसमाजी, ब्रह्मसमाजी, इत्यादि-इत्यादि कितने ही मत के प्रचण्ड विश्वासी भारतमाता की गोद में खेला करते हैं। परन्तु यह ऐसा समय है जब परस्पर एक दूसरे के मतान्तर के कारण विरोध न कर देशहितकर गुणों को आदर से ग्रहण कर सब भाई एकमत हो कार्य-क्षेत्र में अवतीर्ण हों। लाला हंसराजजी एक सच्चे आर्य्य-समाजी हैं, परन्तु यदि हमारे पाठकों में से ऐसे लोग हों जो उनसे एक-मतावलम्बी नहीं हैं, उनको उचित है कि लालाजी की उच्चहृदयता को आदर्शस्थल मान उनके सद्गुणों से लाभवान हों। 'सरस्वती' पत्रिका में धर्म्म-सम्बन्धी लेख छापने का नियम नहीं है। इससे लाला साहब के धर्म्म जीवन के व्यापारों को छोड़ हम लोग उनकी अन्यान्य घटनाओं ही की आलोचना इस लेख में करेंगे।

स्वामी दयानन्द सरस्वती सन् ८३ ई० में परलोक को सिधारे और उसी समय से उनके स्मरण में दयानन्द ऐंगलो वैदिक कालेज स्थापन करने का काम आरम्भ हुआ: पर आर्य्यसमाज की अवस्था उस समय निर्बल थी। न उसमें धनाढ्य पुरुष थे और न दूसरे प्रकार के बड़े दर्जे के आदमी थे। इसलिए अत्यन्त पुरुषार्थ करते

हुए भी सन् ८६ के जून तक केवल ३६ हजार रुपया इकट्ठा हो सका। ला० हंसराज ने सन् ८५ ई० में बी० ए० परीक्षा पास की और उस साल नवम्बर में लाहौर आर्य्यसमाज के उत्सव पर यह इच्छा प्रकट की कि वे इस विद्यालय में बिना वेतन के अपना जीवन लगा दें। उनके इस उत्साह पर कालेज-कमेटी ने जून सन् ८६ ई० में स्कूल खोल दिया। ला० हंसराज ने अपनी विद्या, परिश्रम और दृढ़ प्रयत्न से बहुत शीघ्र पढ़ाने में सुख्याति प्राप्त कर ली और उनकी और उनके स्कूल की ख्याति सुनकर लोग दूर-दूर से अपने बच्चों को भेजने लगे। स्कूल और बोर्डिंग सब भर गए और लोग हैरान थे कि इस स्कूल की इतनी सफलता हो रही है। सन् ८८ ई० में पहिली बार एफ० ए० की श्रेणियां खोली गईं। पहिले पहल उनको भी अंगरेजी ला० हंसराज स्वयं ही पढ़ाते रहे। फिर सन् ९० ई० में कालेज में बी० ए० की श्रेणिआं खोल दी गईं और इसके कुछ समय पीछे संस्कृत की एम० ए० क्लास भी खोल दी गई और कालेज सम्पूर्ण हो गया।

ला० हंसराज ने कालेज में एफ० ए० की श्रेणी में संस्कृत अक्षर आरम्भ किए और एफ० ए० की परीक्षा में संस्कृत ली और उसमें उत्तीर्ण हुए। उसके पीछे बी० ए० में भी संस्कृत ली और फिर स्कूल और कालेज का काम करते हुए संस्कृत विद्या में परिश्रम करते रहे। इन सब परिश्रमों का यह परिणाम हुआ कि वह शरीर जो बचपन में ही गम्भीर विचारों और विद्या में पुरुषार्थ करने के कारण अति दुर्बल था और भी दुर्बल हो गया और लाला हंसराज के मित्रों को उनकी जान की फ़िकर हो गयी। डाक्टर तपेदिक कहकर डराने लगे और कहने लगे कि लाला हंसराज को लाहौर से चला जाना चाहिए। बहुत दिन तक तो ला० हंसराज ने इसे स्वीकार न किया। उन्होंने सोचा कि ऐसा न हो कि लोग यह समझें कि अभी से थक गए और अब काम से जी चुराते हैं। फिर जब ला० साईंदास, ला० मुलकराज और दूसरे मित्रों ने बहुत जोर दिया तो उन्होंने कालेज से तीन मास की छुट्टी ली और लाहौर से बाहर अपने भाई के पास रहने लगे। परमात्मा की कृपा से उनके स्वास्थ्य में अच्छी उन्नति हुई और उन्होंने फिर छुट्टी से वापिस आकर अपना काम संभाल लिया जिसको वे इस समय तक कर रहे हैं। सन् ८९ ई० में ला० साईंदास के मरने पर लाहौर आर्य्यसमाज के सभासदों ने ला० हंसराज को अपना प्रधान बनाया और उस वर्ष आर्य्य प्रतिनिधि सभा ने भी उनको अपना प्रधान चुन लिया। उसके कुछ समय पीछे आर्य्यसमाज में फूट पड़ी और दूसरी पार्टी के लोगों ने ला० हंसराज को बहुत बुरा-भला कहना आरम्भ किया और अत्यन्त अपशब्दों से पुकारा। पर लालाजी कभी भी अपने प्रण से झूठे होने का ख्याल अपने दिल में न लाए। हमारी समझ में तो इस निन्दा में जो गम्भीरता और दृढ़ता उन्होंने दिखलाई उससे उनका मान और भी बढ़ गया और लोगों को निश्चय हो गया कि इस व्यक्ति में महान् पुरुष होने के सारे ही चिन्ह विद्यमान हैं।

ला० हंसराजजी कालेज में इतिहास और पोलिटिकल इकानोमी के प्रोफ़ेसर हैं और अपने विषय में सूबे भर में चुने हुए अध्यापक हैं। उनके विद्यार्थी सदा अच्छे दर्जे में पास होते रहे हैं। वे धर्म-सम्बन्धी शिक्षा में भी हिस्सा लेते हैं और कालेज और बोर्डिंग का सारा प्रबन्ध उनके अधिकार में है। तिस पर भी सदा लाहौर समाज में और बाहर के समाजों में धर्म प्रचार का काम करते हैं और समाज का प्रबन्ध करते हैं।

उनका निज का जीवन अत्यन्त पवित्र और सादा है। उनका धर्मभाव अत्यन्त दृढ़ है। ईश्वरभक्ति और प्रेम की दृष्टि से वे भक्त कहलाने के अधिकारी हैं। संस्कृत भाषा के विद्वान् हैं। मनुस्मृति, उपनिषद्, सूत्र आदि में उन्हें अच्छा ज्ञान है। यजुर्वेद और ऋग्वेद को भी उन्होंने बहुत कुछ विचारा है। अनाथरक्षा में जो काम पंजाब के लोगों ने किया है उसमें उनके विचार, उनकी सम्मति और उनकी सहायता ने भी बहुत कुछ साहाय्य दिया है। उनके जीवन का निर्भर इस रीति पर है कि उनके बड़े भ्राता उनको खर्च के लिए ५० रुपया महीना देते हैं और उसमें ला० हंसराजजी अपना और कुटुम्ब का निर्वाह करते हैं। उनके तीन-चार सन्तान हैं और उनकी धर्मात्मा माता भी उनके साथ रहती हैं। लेने-देने में इतने सख्त हैं कि किसी मित्र की दी हुई सम्पत्ति भी स्वीकार नहीं करते। तिस पर सामाजिक चन्दों में सदा यथाशक्ति चन्दा देते हैं। यह भी बता देना अनुचित न होगा कि ला० हंसराज उन आर्य्यसमाजियों में से नहीं हैं जो अपने आपको हिन्दू जाति से पृथक् समझते हैं।

हिन्दू मात्र की सेवा करना, उनमें विद्या का प्रचार करना, हिन्दू जाति का उद्धार करना और उसमें वैदिक धर्म का प्रचार करना उनके जीवन का मुख्य उद्देश्य है और इसी से वे महान् पुरुष कहलाने के योग्य हैं।

गृहस्थ में रहते हुए यदि कोई पुरुष आजकल संन्यास को प्राप्त हुआ है, तो वे ला० हंसराजजी हैं। काम करते हुए अगर कोई पुरुष श्रीकृष्णजी की शिक्षानुसार निष्काम अवस्था का पात्र बन रहा है तो वे लाला हंसराज हैं। देश में इस प्रकार के गृहस्थ वा संन्यासी यदि दस भी और हो जावें तो देश के सब दुःख दरिद्र दूर हो जावें और शीघ्र ही भारतवासी उन्नत होकर जगत् की शिरोमणि जातियों में एक बन जावें। परमात्मा इस जाति पर कृपा करें कि भारतमाताओं के उदर से इस प्रकार के पुत्र उत्पन्न हों।

१९०२

❀ ❀ ❀

कवि-कल्पना

श्री राधाचरण गोस्वामी

जिस प्रकार इस ब्रह्माण्ड की रचना करनेवाले ब्रह्मा हैं, नाना प्रकार की नई नई कलों के बनानेवाले मिष्टर इंगलिश हैं, तरह तरह के आईन कानून बनाकर भारत को जकड़ने वाले हिज् एक्सीलेन्सी के मन्त्रीमंडल हैं, अनेक स्रोतों से भारत के धन आकर्षण करनेवाले लण्डन और मैनचेष्टर के श्वेतकाय सौदागर हैं, उसी प्रकार सहृदय रसिक मार्मिक जनों के मन को लुभाने, रुलाने, हँसाने और न जाने क्या क्या करनेवाले कविजन हैं! "कवि" यह दो अक्षर क्या मधुर हैं? संसार का सम्पूर्ण सौन्दर्य इसमें कूट कूटकर भर दिया है। जिसको संसार "कवि" कहकर पुकारता है; उसकी प्रतिष्ठा चक्रवर्ती से अधिक है, विक्रमादित्य का राज्य कभी का उलट गया, अकबर कभी का समाधि में सो गया, परन्तु कालिदास और तुलसीदास का आज भी राज्य है और अनन्तकाल तक रहेगा। इनका राज ही नहीं, धन भी है, कीर्त्ति भी है, और इनके मानसपुत्र भी हैं! आहा! कवि की महिमा कवि भी नहीं कह सकते! श्री व्यासजी ने सकल-विद्या-प्रवर्त्तक ब्रह्माजी को श्री-भागवत के आदि श्लोक में 'तेने ब्रह्महृदाय आदिकवये' कह कर 'आदि-कवि' उपाधि दी है।

जाते जगति वाल्मीकौ 'कवि'रित्यगमत् प्रथाम्।
'कवी' इति ततो व्यासे 'कवय'स्त्वयि दण्डिनि॥

इस पद्य से "कवि" का गौरव प्रत्यक्ष है। "अन्ये कवयः कपयः", "अब के कवि खद्योत सम" इत्यादि से कुकविनिन्दा भी साक्षात् है। कवि की इतनी प्रशंसा क्यों है? कवि की गौरव-सामग्री क्या है? वह अघटित-घटना-पटीयसी कल्पना है। कवि की कल्पना से विधि की कल्पना भी हार मान गई! ब्रह्मा की सृष्टि में एक मुख के मनुष्य हैं, कवि की कल्पना ने रावण को दशमुख बना दिया! वैज्ञानिक पृथ्वी को निराधार बतलाते हैं; कवि ने पृथ्वी को सहस्रशीर्षा भगवान् के सिर पर सर्षप के समान रख दी। दार्शनिक आकाश को शून्य बतलाते हैं; कवि ने उसमें सप्त स्वर्ग बनाकर इन्द्र, ऐरावत, आकाशगंगा, उर्वशी, नन्दन-वन, अमरावती आदि भर दिये। कवि ने भगवान् के अवतारों को भी चैन नहीं लेने दिया। भवभूति श्रीरामचन्द्र जी से क्या कहलाता है—

दलति हृदयं गाढोद्वेगो द्विधा न तु भिद्यते,
वहति विकलः कायो मोहन्न मुंचति चेतनाम्।

ज्वलयति तनूमन्तर्दाहः करोति न भस्मसात्,
प्रहरति विधिर्मर्मच्छेदी न कृन्तति जीवितम् ॥

श्रीकृष्ण तो कवियों के जीवन ही हैं; उनकी तो बड़ी बड़ी लीला है—

संकेतीकृतकोकिलादिनिनदं कंसद्विषः कुर्वतो,
द्वारोन्मोचनलोलशंखवलयक्वाणम्मुहुः श्रृण्वतः ।
कोयं कोयमिति प्रगल्भजरतीवाक्येन दूनात्मनो,
राधा-प्रांगण-कोण-कोल-विटप-क्रोडे गता शर्वरी ॥

कवियों की भगवद्विषयिणी कल्पना कल्पनामात्र ही नहीं है, वरंच भगवान् उसे सत्य भी करते हैं।

यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति,
तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय ।

और देश की तो जानते नहीं; परन्तु भारतवर्ष तो आब्रह्म-तृण-पर्यन्त कवि कल्पना से आबद्ध है। यदि दिव्य दृष्टि से देखा जाय तो भारत कवि-कल्पना की जन्मभूमि, रंगभूमि और शेष में श्मशानभूमि भी होना चाहता है! 'मा निषाद प्रतिष्ठां' से आरम्भ होकर देखें कवि-वाणी कहाँ मौनावलम्बन करती है? सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर भारत में फिर किसी अमर कवि को उत्पन्न करें कि जिसकी वीणाध्वनि से मृतप्राय देश जागृत हो।

१९०३

❀ ❀ ❀

"इत्यादि" की आत्मकहानी

श्री यशोदानन्दन अखौरी

"शब्दसमाज" में मेरा सम्मान कुछ कम नहीं है। मेरा इतना आदर है कि वक्ता और लेखक लोग मुझे बलात्कार घसीट ले जाते हैं। दिन भर में, न जाने मेरे पास कितने बुलावे आते हैं। सभा, सोसायटियों में जाते-आते मुझे नींद भर सोने की भी छुट्टी नहीं मिलती। यदि मैं बिना बुलाये भी कहीं जा पहुँचता हूँ तौभी सम्मान के साथ स्थान पाता हूँ। सच पूछिए तो "शब्दसमाज" में यदि मैं, "इत्यादि", न रहता, तो लेखकों और वक्ताओं की न जाने, क्या दुर्दशा होती। पर हा! इतना सम्मान पाने पर भी किसी ने आज तक मेरे जीवन की कहानी नहीं कही। संसार में जो जरा भी काम करता है उसके लिये लेखक लोग खूब नमक-मिर्च लगाकर पोथे के पोथे रँग डालते हैं; पर मेरे लिए एक सतर भी किसी की लेखनी से आज तक न निकली। पाठक, इसमें एक भेद है।

यदि लेखक लोग मेरे गुण सर्वसाधारण पर प्रकाश करते तो उनकी योग्यता की कलई जरूर खुल जाती; क्योंकि उनकी शब्ददरिद्रता की दशा में मैं ही उनका एक-मात्र अवलम्ब हूं। अच्छा, तो आज, मैं चारों ओर से निराश होकर आप ही अपनी कहानी कहने और गुणावली गाने बैठा हूं। पाठक, आप मुझे "अपने मुँह मियाँ मिट्ठू" बनने का दोष न लगावें। मैं इसकी क्षमा चाहता हूं।

अपने जन्म का सन-संवत्-मिती-दिन मुझे कुछ भी याद नहीं है। याद है केवल इतना ही कि जिस समय "शब्द का महा अकाल" पड़ा था, उसी समय मेरा जन्म हुआ था। मेरी माता का नाम "इति" और पिता का "आदि" है। मेरी माता अविकृत "अव्यय" घराने की है। मेरे लिए यह थोड़े गौरव की बात नहीं है; क्योंकि भगवान् फणीन्द्र की कृपा से "अव्यय" वंशवाले, प्रतापी महाराज "प्रत्यय" के कभी अधीन नहीं हुए। सदा स्वाधीनता से विचरते आये हैं।

मैं जब लड़का था, तब मेरे मा बाप ने एक ज्योतिषी से मेरे अदृष्ट का फल पूछा था। उन्होंने कहा था कि यह लड़का विख्यात और परोपकारी होगा; अपने समाज में यह सबका प्यारा बनेगा; पर दोष है तो इतना ही कि यह कुँवारा ही रहेगा। विवाह न होने से इसके बाल-बच्चे न होंगे। मा बाप के मन में यह सुनकर पहले तो थोड़ा दुःख हुआ पर क्या किया जाय? होनहार ही यह था।

इसलिए शोच छोड़कर उन्हें सन्तोष करना पड़ा। उन दोनों ने, अपना नाम चिरस्मरणीय करने के लिए (मुझसे ही उनके वंश की इतिश्री थी) मेरा नाम कुछ और नहीं रक्खा। अपने ही नामों को मिला कर वे मुझे पुकारने लगे। इससे मैं "इत्यादि" कहलाया।

पुराने जमाने में मेरा इतना नाम नहीं था। कारण यह कि एक तो लड़कपन में थोड़े लोगों से मेरी जान-पहचान थी; दूसरे उस समय बुद्धिमानों के बुद्धिभाण्डार में शब्द की दरिद्रता भी न थी। पर जैसे जैसे शब्ददारिद्रय बढ़ता गया, वैसे वैसे मेरा सम्मान भी बढ़ता गया। आजकल की बात मत पूछिए। आजकल मैं मैं ही हूँ। मेरे समान सम्मानवाला इस समय मेरे समाज में बहुधा बिरला ही ठहरेगा। आदर की मात्रा के साथ मेरे नाम की संख्या भी बढ़ चली है। आजकल मेरे अनेक नाम हैं—भिन्न-भिन्न भाषा के "शब्द-समाज" में मेरे नाम भी भिन्न-भिन्न हैं। मेरा पहरावा भी भिन्न-भिन्न है—जैसा देस वैसा ही भेस बनाकर मैं सर्वत्र विचरता हूँ। आप तो जानते ही होंगे कि सर्वेश्वर ने हम "शब्दों" को सर्वव्यापक बनाया है इसीसे मैं, एक ही समय, अनेक ठौर काम करता हूँ। इस घड़ी विलायत की पार्लियामेंट महासभा में डटा हूँ; और इसी घड़ी भारत की पण्डितमण्डली में भी विराजमान हूँ। जहाँ देखिए वहाँ ही मैं परोपकार के लिए उपस्थित हूँ।

मुझमें यह एक भारी गुण है, कि क्या राजा, क्या रंक, क्या पण्डित, क्या मूर्ख, किसी के घर जाने आने से मैं संकोच नहीं करता; और अपनी मानहानि नहीं समझता। और "शब्दों" में यह गुण नहीं। वे बुलाने पर भी कहीं जाने आने में बड़ा गर्व करते हैं। बहुत आदर चाहते हैं। जाने पर सम्मान का स्थान न पाने से रूठकर उठ भागते हैं। मुझमें यह बात नहीं है। इसीसे मैं सबका प्यारा बना हूँ।

परोपकार और दूसरे की मानरक्षा तो मानो मेरा धन्धा ही है। यह किये बिना मुझे एक पल भी कल नहीं पड़ती। संसार में ऐसा कौन है जिसके, अवसर पड़ने पर, मैं काम नहीं आता? निर्धन लोग जैसे भाड़े पर कपड़ा-लत्ता पहनकर बड़े-बड़े समाजों में बड़ाई पाते हैं, कोई उन्हें निर्धन नहीं समझता,—वैसे ही मैं भी छोटे-छोटे वक्ताओं और लेखकों की दरिद्रता झटपट दूर कर देता हूँ। अब दो-एक दृष्टान्त लीजिए—

वक्ता महाशय वक्तृता देने को उठ खड़े हुए हैं। अपनी पण्डिताई दिखाने के लिए सब शास्त्रों की बात थोड़ी-बहुत कहनी चाहिए। पर शास्त्र का जानना तो अलग रहा, उन्हें किसी शास्त्र का पन्ना भी उलटने का सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ। इधर उधर से सुनकर दो एक शास्त्र और शास्त्रकार का नाम भर जान लिया है। कहने को तो खड़े हुए हैं, पर कहें क्या? अब लगे चिन्ता के समुद्र में डूबने उतराने; और मुँह पर रूमाल दिये खाँसते-खूँसते इधर-उधर ताकने। दो चार बूँद पानी भी उनके मुखमण्डल पर झलकने लगा। जो मुखकमल पहले उत्साहसूर्य की किरणों से खिल उठा था, अब ग्लानि और संकोच का पाला पड़ने से मुरझाने लगा। उनकी ऐसी दशा देख मेरा हृदय दया से उमड़ आया। उस समय मैं बिना बुलाये उनकी सहायता के लिए जा खड़ा हुआ; और उनके कानों में चुपके से मैंने कहा, "महाशय, कुछ परवा नहीं, आपकी मदद के लिए मैं हूँ। आपके जी में जो आवे आरम्भ कीजिए; फिर तो मैं सब कुछ निबाह लूँगा?" मेरे ढाढस बँधाने पर बेचारे वक्ताजी के जी में जी आया। उनका मन फिर ज्यों का त्यों हरा-भरा हो उठा। थोड़ी देर के लिए जो उनके मुखड़े के आकाशमण्डल में चिन्ताचिह्न का बादल देख पड़ा था, सो मेरे ढाढस के झकोरे से एकबारगी फट गया; और उत्साह का सूर्य फिर निकल आया। अब लगे वे यों वक्तृता झाड़ने "महाशयगण, मनु इत्यादि धर्म्मशास्त्रकार, व्यास इत्यादि पुराणकार, कपिल इत्यादि दर्शनकारों ने कर्म्मवाद पुनर्जन्मवाद इत्यादि जिन-जिन दार्शनिक तत्त्व-रत्नों को भारत के भाण्डार में भरा है, उन्हें देख कर मैक्समूलर इत्यादि पाश्चात्य पण्डित लोग बड़े अचम्भे में आकर चुप हो जाते हैं।...इत्यादि।"

यहाँ इतना कहने की जरूरत नहीं कि वक्ता महाशय धर्मशास्त्रकारों में केवल मनु, पुराणकारों में केवल व्यास, दर्शनकारों में केवल कपिल का नाम ही भर जानते हैं; और उन्होंने कर्म्मवाद, पुनर्जन्मवाद का केवल नाम ही भर सुन लिया है। पर देखिए मैंने उनकी दरिद्रता दूर कर उन्हें ऊपर से कैसा पहनावा पहनाया, कि भीतर के फटे पुराने और मैले चीथड़े को किसी ने नहीं देखा।

और सुनिए—किसी समालोचक महाशय का किसी ग्रन्थकार के साथ बहुत दिनों से मन-मुटाव चला आता है।

जब ग्रन्थकार की कोई पुस्तक समालोचना के लिए समालोचक साहब के आगे आई, तब वे बड़े प्रसन्न हुए; क्योंकि यह दाँव तो वह बहुत दिनों से ढूँढ़ रहे थे। पुस्तक को बहुत कुछ ध्यान देकर, उलट कर, उन्होंने देखा। कहीं किसी प्रकार का विशेष दोष पुस्तक में उन्हें न मिला। दो एक सामान्य छापे की भूलें निकलीं। पर इससे तो सर्वआधारण की तृप्ति नहीं होती। ऐसी दशा में बेचारे समालोचक महाशय के मन में मैं याद आ गया। वे झटपट मेरी शरण आये। फिर क्या है? पौ बारह! उन्होंने उस पुस्तक की यों आलोचना कर डाली—"पुस्तक में कितने दोष हैं, उन सभों को दिखाकर, हम ग्रन्थकार की अयोग्यता का परिचय देना, तथा अपने पत्र का स्थान भरना, और पाठकों का समय खोना, नहीं चाहते। पर दो एक सामान्य दोषमात्र हम दिखा देते हैं जैसे ...... इत्यादि, इत्यादि।

पाठक! देखा! समालोचक साहब का इस समय मैंने कितना बड़ा काम किया। यदि यह अवसर उनके हाथ से निकल जाता तो वे अपने मन-मुटाव का पलटा क्योंकर लेते? यह तो हुई बुरी समालोचना की बात। यदि भली समालोचना करने का काम पड़े, तो मेरे ही सहारे वे बुरी पुस्तकों की भी ऐसी समालोचना कर डालते हैं, कि वह पुस्तक सर्वसाधारण की आँखों में भली भासने लगती है और उसकी माँग चारों ओर से आने लगती है।

कहां तक कहूँ। मैं मूर्ख को पण्डित बनाता हूँ। जिसे युक्ति नहीं सूझती उसे युक्ति सुझाता हूँ। लेखक को यदि भाव प्रकाश करने की भाषा नहीं जुटती तो भाषा जुटाता हूँ। कवि को जब उपमा नहीं मिलती, उपमा बताता हूँ। सच पूछिए तो मेरे पहुँचते ही अधूरा विषय भी पूरा हो जाता है। बस, क्या इतने से मेरी महिमा प्रगट नहीं होती।

१९०४

❀ ❀ ❀

कैथी (प्रतिवाद)

श्रीयुत एद्विन ग्रीव्स

अगस्त की "सरस्वती" में "देशव्यापक" लिपि के लेख में नयी कैथी का कुछ वर्णन है। मैं सम्पादक साहिब का बहुत शुकरगुजार हूँ क्योंकि मुझे प्रतीति है कि जहाँ तक इस बात की चर्चा हो जाए और उस पर सोच विचार किया जाय, वहाँ तक यह प्रसिद्ध हो जाएगा कि कैथी नागरी की सहायता दे सकती है और उसके द्वारा नागरी अधिक प्रचलित हो के उन्नति पावेगी।

मैं आस्था रखता हूँ कि सम्पादक साहिब अनुग्रह करके मुझे अवकाश देंगे कि उस लेख के और कैथी लिपि के बारे में मैं दो चार बातें "सरस्वती" में प्रकाश करूँ।

१—उस लेख में यह बतलाया गया है कि मेरी राय में "यदि कैथी अक्षरों का प्रयोग हो तो .....कागज पर से कलम को बिना उठाये लिखनेवाला उसे दौड़ाता चला जाए।" यह तो भूल है, न तो यह मेरा खियाल है न तो मैंने कभी ऐसा लिखा। "हिन्दुस्तान रीव्यू में मैंने लिखा कि "The adoption of a running hand for Hindi in which the letters might be connected without lifting the pen from the paper is beyond the range of the practicable for the present" "अर्थात् हिन्दी के लिये ऐसी लिपि अब लौं नहीं मिल सकती जिससे कागज पर से कलम को बिना उठाये लिखी जा सकती है।"

२—मैं मान लेता हूँ कि संयुक्त वर्णों की सूची अपूर्ण है। यह मेरी भूल नहीं, जान बूझ के यह ऐसा किया गया है। क्या लाभ है कि बहुत संयुक्त अक्षर बनाये जाएं जो कदाचित दो चार मरतबा साल भर काम में लिये जाएं? "रिक्थ, पक्व, अक्स" ऐसे शब्दों का लिखना कब पड़ता? जब पड़े तो रिक्‌थ, पक्‌व, अक्‌स" क्यों न लिखे जाएँ? विराम के द्वारा काम सहज से निकलता है। संयुक्त अक्षरों के बढ़ाने से कुछ लाभ नहीं। केवल उनको बनाना चाहिये जो अधिक प्रचलित हैं।

३—कैथी सीखने में न अधिक समय न अधिक परि-

श्रम पड़ता है। लिखना और पढ़ना दोनों बहुत सहज हैं। "सरस्वती" के लेख में यह अच्छे प्रकार से बतलाया गया है क्योंकि यों लिखा है कि "इन वर्णों में सिवा ऊपर की पाई के और कौन बड़ा फर्क है?" यह सर्वथा सच है और इस कारण सीखने में बहुत कम परिश्रम पड़ता है।

४—लेख में लिखा है कि "अँगरेजी में एक से अधिक लिपियों के होने से सीखने वालों को—विशेष करके विदेशियों को—थोड़ी बहुत कठिनता अवश्य पड़ती है।" मैं इस बात को मानता हूँ, पर यह पूछता कि क्या कोई जो अँगरेजी जानता हो इस बात को प्रसन्न करे कि केवल एक लिपि प्रचलित होवे? कभी नहीं। किसी भाषा की दो लिपियों का होना बुरी बात नहीं है। पुस्तकों के लिये ऐसे अक्षर चाहिये जिनका पढ़ना सहज है। लिखने के लिये उनकी आवश्यकता है जो लिखने में सहज है। दो लिपियों के होने से थोड़ी कठिनता पड़ती है सही, पर लाभ बहुत होता है।

५—मैं सोच विचार करके और बहुत दिनों से कैथी अपने काम में अभ्यास करके फिर कहता हूँ कि अटकल एक तिहाई समय बच जाता है। यह एक ऐसी बात है जो केवल दोनों लिपियों के अभ्यास करने से मालूम हो सकती है। मैंने ऐसा ही किया और अपने काम के लिये कैथी को सर्वथा प्रसन्न करता हूँ।

६—'आपने "ष" और "ख" कैथी में एक ही रूप रखा है। यह क्यों?' यह कहना ठीक है। छापेखाने में भूल हुई और मेरी भी भूल हुई कि "प्रूफ" को देख के मैंने उनको शुद्ध नहीं किया। कैथी में "ष" नागरी के समान लिखना चाहिये। (ऊपर की पाई को छोड़ के)।

७—यदि हिन्दुस्तान में सब भाषाओं के लिये नागरी प्रचलित हो जाए तो लाभदायक बात होगी और मैं प्रसन्न हो जाऊँगा। और मेरी समझ में कैथी के द्वारा नागरी के प्रचलित होने में किसी प्रकार की बाधा नहीं होगी पर अत्यन्त सहायता।

१९०५

❀ ❀ ❀

प्रश्नोत्तररत्नमाला का कर्ता

श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा

प्रश्नोत्तररत्नमाला नामक ३२ श्लोकों का पुस्तक देखने में बहुत छोटा है, परन्तु उसका उपदेश अमूल्य और सर्वमान्य होने के कारण प्राचीन काल से ही वह रत्नों की माला के समान कंठ में धारण करने योग्य माना जाता है। भिन्न-धर्मावलंबी भी उसके उपदेश को आदर के साथ स्वीकार करते हैं। इतना ही नहीं, किन्तु जैन तो उसे अपने एक आचार्य्य का रचा हुआ मानते हैं। उस परमोपयोगी पुस्तक के कर्ता के विषय में बहुत कुछ मतभेद है। कोई तो उसे यतीन्द्र शुकदेवजी[1] का रचा हुआ बतलाते हैं, कोई शंकराचार्य्य[2] को उसका कर्ता मानते हैं। श्वेतांबरी जैन उसे अपने आचार्य्य विमल[3] की कृति प्रकट करते हैं, और दिगंबरी जैनों के भंडार से मिली हुई प्रतियों के अंत में लिखा है, कि "विवेक से राज्य छोड़ने वाले राजा अमोघवर्ष[4] ने विद्वानों की उत्तम अलंकार रूप यह रत्नमाला रची।"

[1]इति श्रीशुकयतीन्द्रविरचिता प्रश्नोत्तरमाला समाप्ता॥ बंगाल एशियाटिक् सोसाइटी का जरनल, जिल्द १६, भाग २, पृ० १२३५।

[2]इति श्रीमच्छंकराचार्य्यविरचिता प्रश्नोत्तरमाला समाप्ता॥ राजा राजेन्द्रलाल मित्र संगृहीत हस्तलिखित संस्कृत पुस्तकों की सूची, जि० २, पृ० ३५५।

[3]रचिता सितपटगुरुणा विमला विमलेन रत्नमालेव। प्रश्नोत्तरमालेयं कंठगता किं न भूषयति॥ इंडिअन् एण्टिक्वेरी, जि० १९, पृ० ३७८

[4]विवेकात्त्यक्तराज्येन राज्ञेयं रत्नमालिका। रचिताऽमोघवर्षेण सुधियां सदलंकृतिः॥ इंडिअन् ऐण्टिक्वेरी, जि० १९, पृ० ३७८। बंबई गेज़ेटिअर, जि० १, भा० २, पृ० २०१।

इस प्रकार भिन्न-भिन्न चार पुरुष उसके कर्ता माने जाते हैं, जिनमें से कोई एक उसका कर्ता होना चाहिये। उक्त पुस्तक में वेदवाक्य के सेवन, विष्णु और शिव की भक्ति तथा सेवा का उपदेश होने और जैनों के उपासनीय देवताओं का नाम न होने से स्पष्ट है, कि वह जैनी नहीं, किन्तु किसी वेदधर्मानुयायी का रचा हुआ है। और संभव है कि विमल को उसका कर्ता प्रकट करने वाला अंतिम श्लोक जो श्वेतांबरियों के भंडार की प्रति में लिखा मिलता है, किसी जैन विद्वान् ने पीछे से उसमें धर दिया हो। इसी प्रकार शुकदेवजी और शंकराचार्य को उसका कर्ता मानने के लिये कई एक प्रतियों के अंत में उनका नाम होने के अतिरिक्त कोई प्रमाण नहीं है। ईसवी सन् की ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में उसका तिबती भाषा में अनुवाद हुआ जिसमें लिखा है कि 'वह पुस्तक बड़े राजा अमोघवर्ष ने रचा था।' और दिगंबर जैनों के भंडार से मिली हुई पुस्तक में भी वैसा ही लिखा मिलता है। अतएव अमोघवर्ष नामक कोई राजा उसका कर्ता होना चाहिए।

अमोघवर्ष नाम नहीं, किन्तु उपनाम अर्थात् विरुद है, जो दक्षिण में राज्य करने वाले राष्ट्रकूट (राठौड़) वंश के चार राजाओं ने और मालवे के परमार राजा मुंज ने धारण किया था। इन अमोघवर्ष उपनाम वाले पांच राजाओं में से राठौड़ राजा अमोघवर्ष प्रथम और परमार राजा मुंज[1] ये दो ही विद्वान् और कवि थे। अन्य तीन राजाओं को सरस्वती देवी की प्रसादी मिलने का कोई प्रमाण नहीं मिलता, और न उनमें से एक भी ६ वर्ष से अधिक राज्य करने पाया था।

उपर्युक्त दोनों विद्वान् राजाओं में से परमार मुंज (अमोघवर्ष) भी उसका कर्ता नहीं ठहर सकता, क्योंकि उक्त पुस्तक के अंत में स्पष्ट लिखा है कि "विवेक से राज्य छोड़ने वाले राजा अमोघवर्ष ने उसे रचा।" यह कथन मुंज के वास्ते यथार्थ नहीं हो सकता, क्योंकि वह विवेक (वृद्धावस्था) के कारण राज्य छोड़ वानप्रस्थ होने नहीं पाया; किन्तु कल्याण के चौलुक्य (सोलंकी) राजा तैलप पर चढ़ाई करने के समय कैद होकर मारा गया[2] था।

उपर्युक्त कथन राठौड़ राजा अमोघवर्ष प्रथम के वास्ते सार्थक हो सकता है। क्योंकि वह विद्वान था, कविराज उसकी उपाधि थी, 'कविराजमार्ग' नामक अलंकार का ग्रन्थ भी उसने कनडी[3] भाषा में रचा था, जो उक्त विषय में प्रमाण रूप माना जाता है। ६० वर्ष के लगभग राज्य करने के पश्चात् अपने पुत्र कृष्णराज (अकालवर्ष) दूसरे को राज्य देकर वह वानप्रस्थ[4]

सेव्यं सदा किं गुरुवेदवाक्यं ॥८॥....॥ कार्या प्रिया का शिवविष्णुभक्तिः....१०॥....॥ किं कर्म कृत्वा न हि शोचनीयं कामारिकंसारिसमर्चनाख्यं ॥२०॥....॥ उपस्थिते प्राणहरे कृतान्ते किमाशु कार्यं सुधिया प्रयत्नात्। वाक्कायचित्तैः सुखदं यमघ्नं मुरारिपादाम्बुजमेव चिन्त्यम् ॥२४॥ ,.....॥ किं कर्म यत्प्रीतिकरं मुरारे....॥३०॥

[1]मालवे के परमार राजा हर्ष का पुत्र मुंज, जिसके उपनाम अमोघवर्ष और वाक्पतिराज [...श्रीभोज इत्यात्मजः। प्रीत्या योग्य इति प्रतापवसतिः ख्यातेन मुंजाख्यया यः स्वे वाक्पतिराजभूमिपतिना राज्येऽभिषिक्तः स्वयम् ॥४३॥ धनपालरचित तिलकमंजरी पृ० ५ ॥....॥ श्रीमदमोघवर्षदेवापराभिधानश्रीमद्वाक्पतिराजदेवपृथ्वीवल्लभश्रीवल्लभनरेन्द्रदेवः कुशली-......॥ वाक्पतिराज (मुंज) का संवत् १०३६ का दानपत्र, इण्डिअन ऐण्टिक्वेरी, जि० १४, पृ० १६०] मिलते हैं, प्रसिद्ध विद्वान् था और उसकी सभा में धनपाल (तिलकमंजरी का कर्ता), पद्मगुप्त (नवसाहसांकचरित का रचयिता), धनंजय (दशरूपक का कर्ता), धनिक (दशरूपावलोक का रचयिता), हलायुध और अमितगति आदि कई विद्वान् थे। उसका रचा हुआ कोई पुस्तक इस समय उपलब्ध नहीं है, तथापि उसके रचे हुए श्लोक सुभाषितावलि और अलंकार के पुस्तकों में मिलते हैं, और उसकी विद्वत्ता की प्रशंसा अनेक विद्वानों ने की है (..यः सर्वविद्याब्धिना—श्रीमुंजेन सरस्वतीति सदसि क्षोणीभृता व्याहृतः॥५३॥ तिलकमंजरी पृ० ६ ॥....॥ सरस्वतीकल्पलतैककन्दं वन्दामहे वाक्पतिराजदेवम्। यस्य प्रसादद्वयमप्यनन्यकवीन्द्रचीर्णे पथि संचरामः॥१।१८॥......॥अतीते विक्रमादित्ये गतेऽस्तं सातवाहने। कविमित्रे विशश्राम यस्मिन्देवी सरस्वती।११।९३॥ नवसाहसांकचरित॥....॥ गते मुंजे यशःपुंजे निरालम्बा सरस्वती॥प्रबंधचिंतामणि, पृ० ६३)॥

[2]मुंजराज,-प्रबंधचिंतामणि पृ० ५५—६३।

[3]अमोघवर्ष कर्नाटक देश का राजा था, जहाँ क मातृभाषा कनडी थी।

[4]अमोघवर्ष प्रथम का राज्याभिषेक शक संवत् ७३७ (विक्रम संवत् ८७२) में हुआ था। शक संवत् ७९७ (वि० सं० ९३२) के पूर्व उसने राजकार्य छोड़

हुआ था। और दिगंबर जैनों का, जिनके भंडार की पुस्तक में उसका नाम मिलता है, आश्रयदाता[1] वही था। अतएव प्रश्नोत्तरमाला का कर्ता राठौड़ राजा अमोघवर्ष प्रथम ही होना चाहिए।

दिया था और श० सं० ७९९ (वि० सं० ९३४) तक तो वह विद्यमान था, (जिसके पीछे किसी समय उसका देहान्त हुआ होगा) ऐसा प्राचीन शिलालेख और ताम्रपत्रों से निश्चय होता है। अतएव यदि राज्य छोड़ने के बाद उसने प्रश्नोत्तरमाला की रचना की हो तो उसका समय वि० सं० ९३२ के निकट स्थिर होता है।

[1] जैसे ईसवी सन् की १२वीं शताब्दी में गुजरात के चौलुक्य राजा कुमारपाल के दरबार में श्वेतांबरी जैन पंडितों का अच्छा सम्मान रहा और हेमचन्द्र सूरि (हेमाचार्य) को राजा के गुरु कहलाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, वैसे ही अमोघवर्ष के राज्य में दिगंबरी जैन विद्वानों का बहुत कुछ आदर हुआ और उनमें से जिनसेनाचार्य को उसने अपने गुरु का पद दिया। (इति विरचितमेतत्काव्यमावेष्ट्य मेघं बहुगुणमपदोषं कालिदासस्य काव्यं। मलिनितपरकाव्यं तिष्ठतादाशशांकं भुवनमवतु देवस्सर्वदामोघवर्षः ॥७१॥ श्रीवीरसेनमुनिपादपयोजभृंगः श्रीमानभूद्विनयसेनमुनिर्गरीयान्। तच्चोदितेन जिनसेनमुनीश्वरेण काव्यं व्यधायि परिवेष्टितमेघदूतम् ॥ ७१ ॥ इत्यमोघवर्षपरमेश्वरपरमगुरुश्रीजिनसेनाचार्यविरचिते मेघदूतवेष्टितवेष्टिते पार्श्वाभ्युदये भगवत्कैवल्यवर्णनं नाम चतुर्थस्सर्गः ॥४॥ जिनसेन-सूरिरचित पार्श्वाभ्युदयकाव्य—बंबई की एशियाटिक् सोसाइटी का जर्नल, जि० १८, पृ० २२४॥...॥ यस्य प्रांशुनखांशुजालविलसद्धारान्तराविर्भवत्पादाम्भोजरजःपिशंगमुकुटप्रत्यग्ररत्नद्युतिः। संस्मर्ता स्वममोघवर्षनृपतिः पूतोहमद्येत्यलं सश्रीमांजिनसेनपूज्यभगवत्पादो जगन्मंगलम् ॥—जिनसेनाचार्य के शिष्य गुणभद्ररचित उत्तरपुराण के अंत की प्रशस्ति, श्लोक १०)

१९०६

❀ ❀ ❀

बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय

बाबू व्रजनन्दन सहाय

रायबहादुर बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय, सी० आई० ई०, का जन्म २७ जून सन् १८३८ ई० को, चौबीस परगना के अन्तर्गत "कांटालपाड़ा" नामक ग्राम में हुआ था। बंकिम ने अपने इस पैत्रिक निवास को भी छोड़ दिया। आप कलकत्ते चले आये और नं० ५ प्रताप चैटर्जीज लेन, पटलडांगा, में रहने लगे।

इनके पिता का नाम यादवचन्द्र चट्टोपाध्याय था। ये एक असाधारण शक्तिसम्पन्न पुरुष थे। ये बहुत दिनों तक डेप्युटी कलेक्टर रहे। अन्त में पेन्शन पाकर सुख से अपने समय को व्यतीत किया। लड़कपन में बंकिम अपने पिता के साथ ही रहते थे। उस समय इनके पिता मेदिनीपुर में काम करते थे।

सात वर्ष की उम्र में बंकिम स्कूल भेजे गये। अभी तक इनके पिता मेदिनीपुर ही में थे। अतएव मेदिनीपुर के अंगरेजी स्कूल में इनका नाम लिखाया गया। ये अपनी क्लास के सर्वोच्च स्थान के सदा अधिकारी बने रहे। पिता की बदली हो जाने के कारण, १२ वर्ष की उम्र में, ये हुगली कालेज में भरती हुए।

अपने यश के साथ इन्होंने इस कालेज की भी यशोवृद्धि की। परीक्षा में सर्वोच्च स्थान अधिकार कर पुरस्कार अथवा छात्र-वृत्ति भी पाते थे। स्वर्गीय जज द्वारकानाथ मित्र को छोड़कर इनके समान प्रतिभाशाली छात्र तब तक हुगली कालेज में नहीं हुआ था। कालेज में पढ़ते समय बंकिम को संस्कृत सीखने की अभिलाषा हुई। कालेज से आकर ये नित्य पाठशाला में संस्कृत पढ़ने जाने लगे और तीन चार वर्ष के परिश्रम से इन्होंने संस्कृत में खूब अभिज्ञता प्राप्त कर ली। हुगली कालेज का अध्ययन समाप्त होने पर ये कानून पढ़ने कलकत्ते के प्रेसिडेन्सी कालेज में गये। इसी समय. सन् १८५२ ई० में, कलकत्ता विश्वविद्यालय में पहले पहल बी० ए० परीक्षा का आरम्भ हुआ। कानून पढ़ना छोड़कर बंकिम बी० ए० परीक्षा के लिए परिश्रम करने लगे। तब परीक्षा में केवल दो

महीने शेष रह गये थे। इसी दो मास के परिश्रम से प्रतिभावान् बंकिम ने प्रशंसा-सहित बी० ए० की उपाधि प्राप्त की। इस समय इनकी उम्र सिर्फ २० वर्ष की थी। भारतवर्ष में सबसे पहले बी० ए० यही हुए।

हालिडे नाम के साहब इस समय बंगाल के छोटे लाट थे। इनके गुणों से मुग्ध होकर लाट साहब ने इनको डेपुटी मैजिस्ट्रेट बनाया। २० वर्ष की उम्र में बंकिम ने जसोर जाकर डेपुटी के पद को सुशोभित किया। यहीं सुप्रसिद्ध नाटककार दीनबन्धु मित्र के साथ इनका परिचय हुआ। यही दीनबन्धु, और पुलिस के एक उच्च कर्मचारी, जगदीशनाथ राय, इनके अंतरंग मित्र हुए। इन्हीं दीनबन्धु बाबू को बंकिम ने अपना "मृणालिनी" उपन्यास प्रणयोपहार-स्वरूप समर्पण किया है; और "विषवृक्ष" जगदीशनाथ को अर्पित कर अपने स्नेह का परिचय दिया है।

११ वर्ष की उम्र में बंकिम का विवाह हुआ। किन्तु विवाह के ५-६ वर्ष बाद इनको पत्नी-वियोग हुआ। २० वर्ष की उम्र में, जब बंकिम जसोर में थे, इन्होंने दूसरा विवाह किया। इनकी यह साध्वी सहधर्मिणी इनकी चिरसंगिनी रह कर अन्त में पति-शोक से कातरा हुई। अपनी स्त्री के विषय में इन्होंने लिखा है—"हमारे जीवन पर सबसे अधिक प्रभाव हमारी पत्नी का पड़ा है। हमारी जीवनी लिखने के लिए बैठने पर उसकी भी जीवनी लिखनी पड़ेगी। यही कारण है कि बंकिम के उपन्यासों का आधा भाग, नहीं सारमय भाग, उनकी स्त्री ही की कृपा का फल है।

जसोर में यथोचित विचार-क्षमता दिखाकर बंकिम कांथी गये; और वहाँ से खुलना। वहाँ नील के साहबों का इन्होंने यथेष्ट शासन किया। यही नहीं, यहाँ रहकर इन्होंने उन लुटेरों को भी राजदण्ड दिया जो खुलना से सुन्दरवन के जल-पथ पर लोगों को लूट लिया करते थे।

खुलना से इनकी बदली चौबीस परगना के अन्तर्गत वारुईपुर को हुई। इसी समय हाईकोर्ट के जज प्रिन्सेप साहब को एक कमीशन में जाना पड़ा। अतएव बंकिम बाबू कुछ दिनों के लिए इस पद पर अधिष्ठित हुए। किन्तु केवल दो चार ही मास इस पद को सुशोभित कर डेपुटी होकर बरहमपुर गये।

बीच में कुछ दिनों के लिए बंकिम बाबू लाट साहब के दफ्तर में "असिस्टेन्ट सेक्रेटरी" के पद पर नियुक्त हुए थे। किन्तु मेकाले साहब से इनकी न बनी। अतएव इनको फिर अलीपुर जाकर डेप्युटी की कुरसी सुशोभित करनी पड़ी।

सन् १८९१ ई० में इन्होंने सरकारी नौकरी छोड़ी। १५, १६ वर्ष से ये प्रमेह रोग से पीड़ित थे। यह रोग धीरे धीरे बढ़ गया और सन् १८९४ ई० में इन्हें परलोक को ले गया।

सरकार ने बंकिम का यथेष्ट सम्मान किया था। यथाक्रम इनको "रायबहादुर" और "सी० आई० ई०" की उपाधियाँ मिली थीं।

बंकिम बाबू को पुत्र-मुख-दर्शन का सुख तो मिला नहीं, पर अपनी कन्या की वैधव्य-यंत्रणा देखने का दुःख उठाना पड़ा। इनके तीन कन्यायें थीं।

जिस समय प्रतिभा के पूर्ण अधिकारी और प्रकृत साहित्य के गुरु बंकिम का जन्म बंगदेश में हुआ, उस समय वहाँ की भाषा बहुत हीनावस्था में थी। इनके जन्म ग्रहण करने से विशुष्क सहारारूपी वंग-भाषा "सजला, सफला, मलयजशीतला" हो गई।

बंकिम के पूर्ववर्ती बँगला लेखकों की अपेक्षा इनकी भाषा विशेष प्राणमयी और मर्मस्पर्शिनी होती थी। उसके पढ़ने से कभी कभी ऐसा ज्ञात होता है मानो गद्य में भी किसी सरल गीत का सुखद अलाप सुन रहे हैं। इन सब बातों से ये नवीन वंगभाषा के जन्मदाता कहे जा सकते हैं। किसी-किसी ने इनको आदर्श-लेखक (Idealistic Writer) कहा है। सो ठीक भी है; क्योंकि इनके बाद के सभी लेखक इन्हीं की भाषा का अनुकरण करते हैं। इनकी भाषा सरस, मधुर, हास्यपूर्ण है। इनके उपन्यास भी आदर्श हैं। अर्थात् जिस प्रकार का समाज होना चाहिए उसी को इन्होंने अपने उपन्यासों में दिखाया है। वर्तमान समाज का इन्होंने चित्र नहीं खींचा। बंकिम बड़े सौन्दर्य-प्रेमी थे। इनके रचे हुए सभी ग्रन्थ सौन्दर्य की सृष्टि हैं। कपालकुण्डला में यह बात सबसे अधिक पाई जाती है।

हम ऊपर कह आये हैं कि वंग के वर्तमान गद्य-साहित्य के जन्मदाता बंकिम ही हैं। इनकी प्रौढ़ और सरस रचना देखने से मालूम होता है कि इनमें स्वाधीनता तथा जातीय

भाव कितना था। श्रीयुत रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने लिखा है कि—"जिस बंकिम ने वंग-साहित्य के गम्भीर-रसोद्रेक से पाठकों के नेत्र-पटल से अश्रुधारा बरसाई है उसी बंकिम ने आनन्द के उदय-शिखर से नवजागरित वंग-साहित्य पर हास्यरस का आलोक विकीर्ण कर संसार को मन्त्रमुग्ध कर दिया है।" उपमा, उपमेय और अन्यान्य अलंकारों का सौन्दर्य तो इनके ग्रन्थों में देखते ही बन आता है। यह नहीं जान पड़ता कि गद्य पढ़ रहे हैं या महारसवती कविता। इस बात का यथार्थ अनुभव केवल उन्हीं लोगों को हो सकता है जिन्हें इनकी कोई पुस्तक पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।

पुत्र का जो स्नेह जन्म-भूमि पर होना चाहिए उसका सजीव प्रमाण इनके "आनन्दमठ" में मिलता है। देश-प्रसिद्ध "वन्दे मातरम्" इसी पुस्तक का एक गीत है। उससे स्पष्ट है कि कवि के हृदय में जन्मभूमि का कैसा अकृत्रिम प्रेम था। इनकी इस गीत पर बड़ी ममता थी। लोग कहते हैं कि जब कभी ये अकेले बिना काम बैठे रहते थे तब बड़े प्रेम से इस गीत को गाया करते थे।

निम्नलिखित पुस्तकों और निबन्धों को बंकिम बाबू ने लिखा है। पाठक, इस सूची को देखकर, विचार सकते हैं कि सरकारी काम की अधिकता रहने पर भी प्रतिभाशाली बंकिम ने कितना काम किया है। कवि ने इन सब प्रबन्धों को उस समय में लिखा है जिसे और लोग खेल तमाशे या गप-शप में व्यर्थ नष्ट कर देते हैं—

(१) दुर्गेशनन्दिनी (२) मृणालिनी (३) रजनी
(४) कृष्णकान्त का विल (दानपत्र) (५) युगलांगुरीय
(६) राधा रानी (७) राजसिंह (८) इन्दिरा
(९) विषवृक्ष (१०) कपालकुण्डला
(११) चन्द्रशेखर (१२) देवी चौधरानी
(१३) कमलाकान्त (१४) आनन्दमठ
(१५) सीताराम।

अन्य ग्रन्थ

(१) कृष्णचरित (२) धर्मतत्व
(३) चम्पू (गद्य पद्य) (४) मानस (काव्य)
(५) ललिता (काव्य) (६) लोक-रहस्य
(७) विविध-प्रबन्ध अर्थात् भिन्न-भिन्न विषयों पर निबन्ध जो "बंगदर्शन" आदि पत्रों में समय-समय पर छपे थे।

"दुर्गेशनन्दिनी" बंकिम का पहला उपन्यास है। यह सन् १८६४ ई० में पहले पहल प्रकाशित हुआ था। इस ऐतिहासिक उपन्यास को देखते ही सारी वंग-भूमि चकित हो गई। इसमें सन्देह नहीं कि सर वाल्टर स्काट (Sir Walter Scott) के उपन्यासों को पढ़कर बंकिम ने उपन्यास-रचना आरम्भ की थी और अँगरेजी उपन्यासों को ही आदर्श मानकर इन्होंने अपनी पुस्तकें लिखी हैं। किन्तु इन पुस्तकों में इनकी प्रतिभा का उच्च विकास देख पड़ता है। "दुर्गेशनन्दिनी" ऐसा उपन्यास उसके पहले पाठकों के दृष्टिगोचर नहीं हुआ था। हिन्दी भाषा में सबसे पहले इसी दुर्गेशनन्दिनी का अनुवाद छपा। पहले बाबू गदाधरसिंह ने इसका अनुवाद किया; फिर बाबू रामदीनसिंह के अनुरोध से बाबू राधाकृष्णदास ने इसका दूसरा अनुवाद किया।

"दुर्गेशनन्दिनी" के प्रकाशित होने के आठ वर्ष बाद बंगालियों के गौरव का धन "वंगदर्शन" नामक मासिक पत्र प्रकाशित होने लगा। इसका प्रथम अंक १८७२ ई० में निकला। इसके सम्पादन का भार बंकिम बाबू ही ने लिया। देखते-देखते इसका नाम, मान और आदर सर्वत्र फैल गया। सब के हाथ में आकर "वंगदर्शन" दर्शन देने लगा। उस समय के सभी सुलेखकों ने इस पत्र का आदर किया और दर्शन, विज्ञान, इतिहास, काव्य और साहित्य के विविध प्रबन्ध इसमें छपने लगे। बंकिम की प्रायः सभी पुस्तकें पहले इसी पत्र में प्रकाशित हुई थीं। आज जो बंगाल के शिक्षित-समाज में वंग भाषा का हम इतना आदर देखते हैं, इसका विशेष कारण, 'वंग-दर्शन' ही है। "दर्शन" के द्वारा बंकिम का यशःसौरभ चारों ओर फैल गया। इस पत्र के देखने से बोध होता है कि बंकिम, समालोचना के सच्चे पक्षपाती थे। एक जगह इन्होंने लिखा है कि यदि साहित्य का यथार्थ उपकार करना चाहो तो प्रकृत और सच्ची समालोचना करो और सच्चे समालोचक की बातों पर ध्यान दो।

बंकिम बाबू के उपन्यासों को विशेष ध्यान देकर पढ़ने से ज्ञात होता है कि वे तीन श्रेणी के हैं। पहली श्रेणी में "दुर्गेशनन्दिनी", "कपालकुण्डला", "मृणालिनी" और "चन्द्रशेखर" हैं। नायक-नायिकाओं का प्रेम और सौन्दर्य ही इनका मूलाधार है। दूसरी श्रेणी वाले हिन्दू-समाज और सांसारिक व्यवहार के आधार पर बने हैं।

"विषवृक्ष" "कृष्णकान्त का विल" (वसीयनामा) और "देवी चौधरानी" इस श्रेणी के अन्तर्गत हैं। पीछे से कवि के हृदय में स्वजातीय प्रीति, स्वदेशभक्ति और स्वधर्म-रक्षा के भाव उदित हुए, जिसके फल "आनन्दमठ", "सीताराम" और नूतन संस्करणवाला" राजसिह" हैं। पर इन सब श्रेणियों का मुख्य और प्रधान उपादान प्रेम ही है। मानव-हृदय के अति कोमल, अति सूक्ष्म और अति स्वाभाविक भावों का अवलम्बन करके कवि ने इनकी रचना की है।

इनके सिवा अनेक ऐतिहासिक और धर्मसम्बन्धी प्रबन्ध तथा इन्दिरा, राधारानी आदि छोटी-छोटी पुस्तकें भी इन्होंने लिखी हैं।

बंकिम बाबू की दूसरी श्रेणी की उपन्यासावली की मर्मस्पर्शिनी लेख-प्रणाली, रसमाधुर्य्य तथा चरित्रचित्रण बड़े ही मनोहर हैं। यदि ये सब गुण इनकी तीसरी श्रेणी के उपन्यासों में भी समान भाव से रहते तो यथार्थ ही उत्कृष्ट काव्यदर्शन के देखने का सौभाग्य हम लोगों को प्राप्त होता। यदि कपालकुण्डला का काव्यादर्श, विष-वृक्ष और चन्द्रशेखर का लिपि-चातुर्य्य तथा चरित्र-चित्रण और आनन्दमठ तथा सीताराम का उत्कृष्ट लक्ष्य एकत्र सन्निविष्ट होते तो बंकिम बाबू के उपन्यास आज सारी दुनिया के उपन्यासों में सर्वश्रेष्ठ गिने जाते।

बंकिम बाबू के उपन्यासों में एक और विशेषता यह है कि प्रायः उन सब में एक न एक महापुरुष का चरित अंकित है। दुर्गेशनन्दिनी से लेकर सीताराम तक प्रायः सभी उपन्यासों में कोई न कोई महात्मा जरूर ही देख पड़ते हैं।

बंकिम के उपन्यासों का कथानक विशेष महत्वपूर्ण नहीं है। पर इससे क्या? दूसरे की कही हुई बातों को अपने ढंग पर बनाकर कहना और उसमें एक नया सौन्दर्य लाना भी एक गुण ही है। दूसरे को अपना कर उसे अपने ढंग का कैसे बना लेना चाहिए, इसका उदाहरण हम लोग इनके कृष्णचरित में पाते हैं। कृष्णचरित को देखते ही बंगाल में खलबली मच गई। पुरानी शैली की पण्डित-मण्डली इनके विरोध में उठ खड़ी हुई। इस ग्रन्थ में कवि ने श्रीकृष्ण का चरित किसी देवता और अवतार के अनुरूप नहीं लिखा। इन्हें यादवपति, यदुवंश-शिरोमणि मानकर इनका चरित चित्रित किया है। इन्होंने लिखा है कि वृन्दावन में गोपियों के संग प्रेम और शृंगार रस की कहानियाँ जो कवि लोगों ने वर्णन की हैं उनका आधार संस्कृत-साहित्य में नहीं है; ये नवीन कवियों की कपोल-कल्पनायें हैं।

उम्र ढलने पर बंकिम बाबू का ध्यान धर्म की ओर विशेष था। अन्त में वे वेद पढ़ने, और धर्म-पुस्तकों ही के पाठ तथा मनन, में अपना अधिक समय व्यतीत करते थे।

सिर्फ उपन्यास ही लिखने में प्रतिभाशाली बंकिम कवि, दार्शनिक, नीतिवेत्ता, ऐतिहासिक, नाटककार और समालोचक सब का काम करते थे। समालोचकों की धारणा है कि कपालकुण्डला से बढ़कर सुन्दर चित्र आज तक किसी कवि या चित्रकार ने नहीं खींचा। कपाल-कुण्डला से बढ़कर कविता बंकिम ने और कहीं नहीं की और यही उनके उपन्यासों में सबसे बढ़कर है। किन्तु हम इनके "चन्द्रशेखर" को अधिक पसन्द करते हैं; क्योंकि इसका विषय गूढ़, भाव गम्भीर, लेखप्रणाली प्रगल्भ और भाषा ओजस्विनी है।

"कपालकुण्डला" को देखने से मालूम होता है कि बंकिम अतृप्टवादी हिन्दू थे। कपालकुण्डला के प्रकाशित होते ही बंकिम की अखण्ड कीर्त्ति की विमल छटा चारों ओर फैल गई और समालोचकों ने इनको साहित्य-सेवकों के राज-राजेश्वर के आसन पर स्थापित कर दिया।

बंकिम का अन्तिम उपन्यास "सीताराम" है। इसमें स्वदेशभक्त कवि ने नाटक का अच्छा क्रम-विकाश दिखाया है। किन्तु इसमें कवि की वह सर्वश्रेष्ठ प्रतिभा नहीं झल-कती जो कपालकुण्डला और चन्द्रशेखर में विद्यमान है। हमारे एक मित्र कहते हैं कि चन्द्रशेखर जैसा सुन्दर ग्रन्थ संस्कृत में भी नहीं है।

१९०७

❀ ❀ ❀

पंजाब में हिंदी के प्रचार की जरूरत

लाला हरदयाल

पंजाब में हिंदी के प्रचार की बड़ी जरूरत है। भारतवर्ष का यह भाग प्राचीन समय में वेद-विद्या का अधिष्ठान था। धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र इसी भूमि में था। मंत्रद्रष्टा ऋषि इसी की नदियों के तट पर समाधि लगाये ध्यान में मग्न रहते थे। यहीं हिंदू-जाति ने पहले पहल भारत को देखा और उससे सम्बन्ध बाँधा। पंजाब भारतवर्ष की ढाल है जिसने यवनों की अनेक चोटों से इस देश की रक्षा की। पंजाब ही में बली होकर हिन्दुओं ने सारे मुल्क पर अपना अधिकार जमाया। यह वही प्रान्त है जहाँ के शूर वीरों ने पुराने जमाने में, और सोलहवीं और सत्रहवीं सदियों में, हिन्दू-जाति के मलिनमुख को विजयामृत के सेचन से विमल करके उस पर राज्याभिषेक का टीका लगाया।

हाय! इसी पंजाब की दशा इस समय शोचनीय हो रही है। विदेशियों के सम्पर्क से बहुत बातों में इसका हिंदुत्व शिथिल हो गया है। बंगाल और महाराष्ट्र की अपेक्षा पंजाब का हिंदुत्व ऐसा ही है जैसे सच्ची लैंस के आगे झूठी लैंस, या खिले हुए कमल के सामने मुरझाई हुई पंखड़ियों का ढेर। जिधर देखो हिंदू जाति की हीनता का सबूत मिलता है। सब तरफ घर में, बाजार में, साहित्य में, बोलचाल में, रूप-रंग में, आचार-विचार में, हम हिंदू जाति की असलियत को मिटा हुआ देखते हैं। हम पर विदेशी रोगन चढ़ा हुआ है। हम अपने आपको भूल गये हैं। महात्मा मनु के अनुसार जैसे काठ का हाथी अथवा चमड़े का मृग केवल नाम ही के होते हैं, उसी तरह पंजाब के हिंदू अपनी भाषा के लिहाज से नाम मात्र के हिंदू हैं। वे भारतवर्ष में रहते हुए भी विदेशी कहलाने योग्य हैं। मैं इस अवसर पर और बातों का जिक्र न करूँगा। मैं केवल भाषा के विषय में यह कहना चाहता हूँ कि अब समय आ गया है कि हम श्रीगणेश की प्रशंसा तुरकों के अक्षर में न करें और अपनी पिछली गिरी हुई अवस्था के कलंक को सदैव तिलक समझ कर अपने माथे पर खुशी से न लगावें। जो मलिनता हमारे शरीरों पर आपत्काल में आ गई थी उसको हिन्दुत्व के पवित्र सरोवर में नहा कर धो डालें। जैसे शराबी नशे में तरह-तरह की लज्जाजनक बातें करता है, उसी तरह कमजोरी और आत्मविस्मृति के समय में जो अनुचित बातें हमने की थीं उनसे अब लज्जा आनी चाहिए। क्या जरूरत है कि दास आजाद होकर भी कान में गुलामी का छल्ला पहने रहें, या पहलवान जमीन पर चित हो जाने पर, कभी पीठ की मिट्टी साफ न करे। हिन्दू जाति को धिक् है, जो दैवदुर्विपाक से प्राप्त हुई लज्जाजनक बातों को मौका पाकर भी न छोड़े।

पंजाब अपनी भाषा को बहुत समय से भूल गया है। हिन्दुत्व के ज्ञान का दीपक उसे किसी ने नहीं दिखाया। पर जातियों की आँखों के जादू ने इसे अन्धा बना दिया। विजित होने से इस पर आत्मविस्मृति का ऐसा नशा चढ़ा कि वह बहँक सा गया; अपने आपको कुछ का कुछ बतलाने लगा; बहुरूपियों का सा खेल खेलने लगा। जैसे मालिक के उतरे हुए कपड़े पहन कर नौकर मटकते फिरते हैं, उसी तरह मुसलमान कौम के फटे पुराने साहित्य के चीथड़े चुनकर हिन्दुओं ने भी अपनी भाषा को अलंकृत (!) करना आरम्भ किया। यह नहीं समझा कि दुनिया हमें क्या कहेगी। तुलसी और सूर के काव्य न पढ़ कर सौदा और मीर की तुच्छ गजलों पर ऐसे गिरे जैसे बच्चा माँ का पथ्य दूध छोड़कर मिट्टी खाने दौड़ता है। फारसी-साहित्य की हम नकल उतारने लगे और अपनी पुरानी करी कराई सब भूल गये। उर्दू के गद्य-पद्य में फारसी शाइरों से माँग-माँग कर विदेशी अलंकार भरने लगे। नाटक का नाम तक बाकी न रहा। कसीदों, मसनवियों, गजलों ने दोहों, चौपाइयों की जगह ली। हिन्दुओं की सारी लियाकत, झूठे सिक्कों की तरह, उर्दू के रद्दी सिक्के हिन्द की टकसाल से निकालने में चली गई और कुछ फल न मिला। झूठा सिक्का जो बनाया, साहित्य के परखनेवाले साहूकारों ने उसे परे फेंक दिया। विदेशी चीजें कूट-कूट कर अपने साहित्य में भरीं। नतीजा यह हुआ कि अपनी रीति तो याद न रही, मुफ्त में नकलची और खुशामदी कहाये। न क़आनी ही बन सके न तुलसी। न

फ़ारसी ही लिखी न हिन्दी। एक मिश्रित भाषा, जिसमें दोनों का मेल था, निकाली। मगर जैसे मनुष्यों में दोगले से सब नफरत करते हैं इसी तरह इस नये भूत से जिसका धड़ हिन्दी का, और कपड़े और आवाज फारसी के थे, सब समझदार आदमियों ने नफरत की। नमक और बूरा मिलाने से सिर्फ उलटी ही हो सकती है। मछली पानी के बाहर मर जाती है। अंगूर सर्दी में नहीं उगता। हर कौम अपने मुआफिक साहित्य की आबोहवा में ही तरक्की कर सकती है। जब साहित्य हमारे मुल्क और कौम के अनुरूप न रहा तब वह हमारा न रहा। वह हमारी जाति का अंश नहीं। वह हमारे आदर का पात्र नहीं। वह हमारी दुर्गति की निशानी है और हमारी जातीय उन्नति के रोकने के लिए बलवान विघ्न है। वह गृह-सर्प है कि दगा करता है। वह वेश्या है जो झूठे आभूषण पहन कर हमें अपनी कुल-स्त्रियों से अलग कराती है। विदेशी रस से भरे हुए साहित्य को जो हिन्दू अपना समझते हैं वे हलाहल को अमृत मानते हैं। इससे बढ़कर हमारी अधोगति का और क्या चिन्ह हो सकता है कि आज हिन्दी भाषा, जब हिन्दुओं के आगे आकर अपनी पैत्रिक पदवी माँगती है, तब हिन्दू हिन्दी-शकुन्तला के दुष्यन्त बनकर कहते हैं, हम तुझे नहीं जानते, हमने कभी तुझे नहीं देखा।

पंजाब में रोज की बोलचाल और लिखने पढ़ने में फारसी मिश्रित उर्दू ही का दौर दौरा है। यहाँ हिन्दू लड़के फारसी पढ़ते हैं। मदरसे में मौलवी साहब की जमाअत ऐसी भरी होती है जैसे थियेटर की रंगभूमि। पर बेचारे संस्कृत के अध्यापक का कमरा खँडहर की तरह सूना रहता है। यदि कोई भूले भटके वहाँ जाते हैं तो सिर्फ दो चार। शोक है कि जिन लड़कों की कौम में वाल्मीकि और तुलसी हुए वे गुलिस्ताँ बोस्ताँ के पढ़ने में इतना परिश्रम करें; और हितोपदेश का नाम भी न सुनें! किस कैदी को अपनी बेड़ियों से प्रेम हो सकता है! किस मनस्वी को अपनी मातृभाषा से घृणा हो सकती है? पर भारतवर्ष में सब बातें उलटी हैं। पंजाब के हिन्दुओं के नाम तक अनोखे होते हैं। "बलन्द-इकबाल" हिन्दू कुल में उत्पन्न होते हैं। और "तेग बहादुर" तो हमारे माननीय गुरुजी ही का नाम था। पत्र में "जनाब किबले-गाह साहब" से आरम्भ किया जाता है। गोया यमुना के तट पर अरब की गरम आँधी का झोंका आ गया। विवाह के बुलावे कई जातों में फारसी में भेजे जाते हैं—गोया निकाह पढ़वाना है। कई हिन्दू सज्जनों के यहाँ मुसलमान उस्ताद फारसी पढ़ाने के लिए रक्खे जाते हैं और पण्डित जी महाराज! उनको सिर्फ गुरु-पूजा ही पर कुछ दक्षिणा मिल जाती है। जवान लड़के गजल लिखते हैं और कमल को भूल कर गुल पर मरते हैं। भीम की जगह रुस्तम की प्रशंसा होती है और काबा, मसीहा, वगैरा विदेशी शब्दों से गद्य पद्य अलंकृत होता है। कहावतें भी कितनी ही ऐसी होती हैं कि सुन कर हँसी आती है और रोना भी। "ढाई ईंट की अलग मसजिद बनाना", "न खुदा ही मिला न विसाले सनम" वगैरा फिकरे सबकी जबान पर हैं। यदि रामचन्द्र आज फिर दिल्ली में आवें तो हिन्दुओं को न पहचान सकें। वे आश्चर्य करें कि मैं भारतवर्ष में हूँ या कहीं और। उर्दू का हर घर में रिवाज है। लड़कियाँ भी हिन्दी पढ़ कर फिर उर्दू सीखना बहुत बड़ा काम समझती हैं। जैसे मीठी चीज खाकर खट्टी को जी चाहता है वैसे ही इनका हाल है। घर के हिसाब तक में घी, रौगन जर्द लिखा जाता है। और चिट्ठियों के ऊपर पते में "बखिद-मत.........बिरसद" आदि शब्द सारी दुनिया में हमाने अज्ञान की डौंडी पीटते हैं। राम राम और नमस्कार की जगह "बन्दगी" सुन-सुनकर कान बंद करने को जी चाहता है।

स्त्रियों ने अपना जाति-धर्म हाथ से जाने नहीं दिया है। स्त्रियाँ सदा अपनी जाति में प्राणों की रक्षा करती हैं। क्यों न हो, प्राण देती भी तो वही हैं। हिन्दू स्त्रियाँ हिन्दी पढ़ना अपना मुख्योद्देश्य समझती हैं। उनके लिए अच्छी-अच्छी पुस्तकें हिन्दी में लिखी जानी चाहिए जिसमें उनको उर्दू पढ़ने की जरूरत न रहे। भाइयो, इस त्रुटि को पूरा करो। स्त्रियों ही से हिन्दी के प्रेम की वृद्धि करो। कई समाजें पंजाब में ऐसी हैं जो हिन्दी-प्रचार का कुछ काम कर रही हैं। आर्य-समाज इनमें मुख्य है। देव-समाज के अनुयायी भी हिन्दी में ही व्याख्यान देते हैं। राधास्वामी वाले भी अपने मत के ग्रन्थ हिन्दी में ही लिखते हैं। इन सब समाजों और सम्प्रदायों से हिन्दी की कुछ-कुछ उन्नति हो रही है। आर्य-समाज ने फारसी अक्षरों में बहुत से हिन्दी के शब्दों को स्थान दिया। इससे जो हिन्दू हिन्दी नहीं जानते उन तक हिन्दुत्व की कुछ सुगन्ध पहुँच सकती है। इस हिन्दी-मिश्रित उर्दू को गालिब

और जौक के कलाम के चाहने वाले निरादर की निगाह से देखते हैं।। यह उनकी भूल है।

आजकल युवक विद्यार्थी दूर-दूर कालिजों में पढ़ने जाते हैं। परन्तु अपनी स्त्रियों को घर पर छोड़ जाते हैं। उन्हें पत्र लिखना पड़ता है। हमारी स्त्रियाँ प्रायः हिन्दी ही जानती हैं। उन्होंने तो नौकरी के लिए अपना जाति-धर्म बेचा नहीं। वे अब तक अपनी जाति-भाषा को रत्न की तरह छिपाये अन्तःपुर में बैठी हैं कि कब पुरुषों की बुद्धि ठिकाने आवे और कब उनको वह अनमोल मोती फिर प्राप्त हो। क्यों न हो, वैसे भी तो घर की सम्पत्ति उत्तम सोने चाँदी के रूप में स्त्रियों ही के शरीर पर रहती है। इस कारण नवयुवक बाबू साहबों को हिन्दी पढ़नी पड़ती है। जो काम वे गुरु के कहने से न करते वह स्मरशासन करवा लेता है। सच है सब तो त्रिलोचन नहीं हैं जो फूल के धनुषवाले को भस्म कर दें। अतएव जितने विद्यार्थी दूर देश में जायँगे उतना ही हिन्दी का प्रचार अधिक होगा।

इस प्रकार हिन्दी धीरे-धीरे फैल रही है। पर इस जनवासे की चाल से विशेष लाभ न होगा। जब तक कचहरियों और दफ्तरों में उर्दू अधिकार के सिंहासन पर बैठी है और हिन्दू लोग संस्कृत पढ़ना अपना धर्म नहीं समझते, तब तक हिन्दी की यथार्थ उन्नति न होगी। एक और बात भी विचार-योग्य है। बहुत से आदमी मुँह से तो हिन्दी के प्रेमी बनते हैं, पर कोई किताब या लेख लिखने के समय उससे मुँह छिपाते हैं। यह दोष हिन्दी के बड़े-बड़े भक्तों तक में पाया जाता है। जब हिन्दी के पक्षपाती ही ऐसा करेंगे तब औरों से क्या आशा की जाय! जबानी बातों से कहीं काम चलता है! पंजाब में है उर्दू का प्रचार। इससे उर्दू ही की पुस्तकों के गाहक अधिक हैं। जब लेखक साहित्य के मैदान में आते हैं तब देश-प्रेम तो हिन्दी की ओर घसीटता है और द्रव्य-प्रेम उर्दू की ओर। इस दुविधा में महामाया लक्ष्मी ही की जीत होती है। फिर यह भी विचार होता है कि अपने सिद्धांत उर्दू में अधिक लोगों के पास पहुँचेंगे। इससे वे अपनी विचार-सुगन्धि को ताँबे के पात्र में रखते हैं, क्योंकि सोने का पात्र लोगों को पसन्द नहीं। इससे बेचारी हिन्दी के गले में छुरी फिरती है। लाला लाजपतराय जी ने उर्दू में कई महापुरुषों के जीवन-चरित लिखे हैं। और आर्य-समाज-कालिज के एक महाशय ने आनन्दमठ का बंगाली से उर्दू में अनुवाद किया है। यदि इसी तरह हमारे हाथ और कलम उर्दू की सेवा में तत्पर रहे तो पंजाब में हिन्दी का प्रचार होना दुःसाध्य होगा। हमको दूरदर्शी होना चाहिए। और हर प्रयत्न से, सब विघ्न बाधाओं का उल्लंघन करके हिन्दी लिखना-पढ़ना सीखना चाहिए, हिन्दी बोलना चाहिए, और हिन्दी ही में पुस्तक-रचना करना चाहिए। ऐसा न करना अपनी जाति को दुर्बल करना है; अपनी जड़ें खोदना है; अपने हिन्दुत्व पर धब्बा लगाना है।

१९०७

❀ ❀ ❀

हमारा संवत् और उसकी रक्षा

बाबू काशीप्रसाद जायसवाल

(आक्सफर्ड विश्वविद्यालय)

संवत् देश की सभ्यता का मुख्य चिह्न है, देश और जाति के गौरव का स्तम्भ स्वरूप है। संवत् शाका चला लेना अतुल पौरुष की बात है। यह जाति मात्र की शक्ति की बहुत बड़ी कसौटी है। संवत् का महत्व और उसके चलाने का नियम हमने हजारों वर्ष पहले समझा और निर्धारित किया, संवत् चलाना जाना और संवत् चलाया।

लगभग दो सहस्र वर्ष पहले कुछ म्लेच्छ हमारे देश के उत्तरी भाग को दबाये हुए थे। वे वहाँसे धीरे-धीरे देश के भीतर चले आ रहे थे; उन्हें जमे सैकड़ों वर्ष

हो गये थे। इतने में उज्जयिनी में विक्रम के सूर्य का उदय हुआ, जिसके नायकत्व में हमने म्लेच्छों को कूड़े की तरह बटोर और भस्मसात् कर उनसे अपनी भूमि मुक्त कर ली और एकच्छत्र साम्राज्य स्थापित किया। इसे आज १९६४ वर्ष हुए। तभी हमने देश के छुड़ाने के आनन्द में, साम्राज्य स्थापित करने के संतोष में, जातीय विक्रम की स्मृति में, हिन्दू जाति की जातीय विक्रमीय नामक संवत् रूपी पताका अपने जातीय नायक के नेतृत्व में स्थापित की। यह ध्वजा स्थापित करते समय यदि हमारे पुरखों को जरा भी सन्देह-स्वप्न हुआ होता कि हमारी सन्तान इसे, अपने अस्तित्व तक भले और बुरे दिनों में, बनाये न रहेगी, याद न रक्खेगी, उपयोग में लाना बंद कर देगी—तो वे कभी इसकी स्थापना न करते। इसकी स्थापना उन्होंने इसी विश्वास, विश्वास क्या हमारी गौण प्रतिज्ञा, पर हमारे चरित्र के एतबार पर, इस बात के भरोसे पर कि हमारे बेटे इस कीर्ति के झंडे से, अपने पुरखों के दिये हुए चिह्न से, पराङ्मुख न होंगे, उसका निरादर न करेंगे, उसे मरते-मरते भी न भूल जायँगे, अपने बच्चों की योग्यता पर पूरा प्रत्यय करके ही इस यशःपताका की प्रतिष्ठा की। नहीं तो वे ऐसा न करते। जब यह भय रहता है कि अमुक काम चलाये जाने पर न चलेगा, तब उसे कोई नहीं प्रारम्भ करता। और फिर संवत् चलाने में तो केवल इसी बात का विचार किया होगा कि हमारे लड़के इसे अपनाये रहेंगे या नहीं; इससे अपरिमेय काल को मापते रहेंगे या नहीं। जब उन्हें निश्चय हुआ होगा कि हाँ रहेंगे, तभी उन्होंने इसे जारी किया होगा।

अच्छे काम के अनुकरण में हमारे पुरखों की अतीव प्रीति थी। हमारे विक्रमीय संवत् के बाद अनेक दान-पुण्य और पवित्र काम करके शालिवाहन ने अपना शाका चलाया तथा गुप्त वंश आदि ने भी ऐसी ही प्रतिस्पर्धा की। पर उनकी जाति ने और काल ने यह प्रमाणित कर दिया कि हम अपने विक्रम की लाट, अपने पुरखों के विजय-चिह्न, को छोड़ दूसरे चिह्न को उसकी जगह अपना नहीं सकते। अर्थात् विक्रमीय संवत् के सामने हमने अपने और संवतों को भुला दिया।

हमारे संवत् से ५७ वर्ष पीछे ईसाई सन् चलता है। यह विजय की कीर्ति नहीं है। बल्कि मरने के दिन की यादगार है, सूली पर चढ़ाकर तलफाकर मार डालने के दिन की गिनती गिनने का नापना है। संसार के और साके भी विजय-सम्बन्धी नहीं हैं। हमारे संवत् की तरह कोई भी ऐसा पुराना जातीय कीर्ति का स्मारक नहीं है। ईसाई समझते हैं कि ईसा ही सत्य धर्म का बताने वाला हुआ, उसके पहले कोई भी सत्यधर्म न था। उनका धर्म संसार भर में अन्त में विजयी होगा और उनके धर्म का साका ही सत्य और चलनेवाला है। ईर्ष्या वश उन्होंने हमारे संवत् पर बड़े-बड़े ऊहापोह किये। जैसे उनका प्रयत्न रहता है कि दिखावें कि संसार में ईसाई धर्म वालों की ही संख्या सबसे अधिक है उसी तरह इसके लिए भी वे प्राण देते हैं कि लोग समझें कि उनके धर्म का संवत् सबसे पुराना है।

जब कोई जाति किसी दूसरी जाति को अधीन करती है तब उसका प्रयत्न रहता है कि विजित जाति अपने कीर्ति-चिह्नों को, अपने इतिहास को, भुला दे। इस नीति पर मज़ीनी ने लिखा है कि विजयी का बस चले तो वह इतिहास की घटनाओं को छीलकर फेंक दे। इतिहास से जाति में जीवन आता है सो उस जीवन-प्रतिबन्ध के लिए सब कुछ करना पर-जाति का अभीष्ट होता है, और अभीष्ट-सिद्धि के लिए अपनी ओर से वह मनमाना शिक्षा जारी करती है। साका इतिहास का बहुत प्रबल स्तम्भ है। उस स्तम्भ को ढहा देने में चाहे पर-जाति जितना श्रम करे सब थोड़ा ही है।

इस समय देखते हैं कि प्रायः सामयिक पत्रों और आपस की चिट्ठियों पर ईसाई सन् और महीना अपने संवत् और तिथि की जगह बर्ता जा रहा है। इसका फल यह होगा कि हमारे बच्चे यह जानेंगे भी नहीं कि उनका भी कोई संवत् या मास-चक्र था। और क्रमशः वह दिन आवेगा कि जब हमें पंचांग बनाने की जरूरत न रह जायेगी और अन्त में पंचांग बनाने की विद्या भी शायद भूल जायँगे। रियासतों में जहाँ हमारी जाति और हमारा धर्म पर-जाति-संसर्ग से बहुत दूषित नहीं हुए हैं संवत् का बराबर राज्य-व्यवहार होता है और सब प्रकार के दैनिक काम में उपयोग किया जाता है। अब कई रजवाड़ों में ईसाई धर्म की प्रबलता से हमारा संवत् जरा पीछे हटता जाता है। यह बड़े शोक की बात है।

प्राचीन समय के हिन्दुओं को देखिए। अधिक अधो-गति के काल में भी जब उनका धर्म्म-कर्म्म और संपत्ति

बही चली जा रही थी, उन्होंने अपने हाथ से मुसलमानी सन् हिजरी नहीं लिखा। मुसलमानों ने कई बरस अपना अधिकार चलाया पर हमारे हिन्दुत्व को इतना दुर्बल और शक्तिहीन वे नहीं बना सके कि हम अपना संवत् ही भूल जायँ। यूरुप से अभी पचास बरस से परिचय हुआ है। पर ऐसे हिन्दू लड़के बहुत मिलेंगे जो हिन्दू संवत् का ध्यान तक नहीं करते। पर-जाति के स्थापित मदरसों में अपने बच्चों को पढ़ाने के ये बुरे फल हैं। जब हम मुसलमानों का हिजरी नहीं लिखते तब यूरुप का ईसवी सन क्यों लिखें? यूरुप के लोगों का हमसे क्या मुसलमानों से भी अधिक गहरा सम्बन्ध है? हाय! हमारी जातीयता का लोप हो रहा है।

जैसे हबशी लोगों का निज का कुछ भी नहीं, सभी दूसरों से लिया हुआ है, वैसे ही संवत् के मामले में आर्यों के वंशज हम हबशियों के समान पतित हो रहे हैं। लेखक को इस विषय पर बड़ा संताप गत जनवरी मास में हुआ। उसे यहाँ के प्रवासी भाइयों ने पहली जनवरी को "नये साल की खुशी में" कार्ड भेजे और मिलने पर बधाई दी। उसकी समझ में यह न आया कि उस साके को जिसे भिन्नधर्मी "अपने लार्ड (मालिक) का साल" कहते हैं किस मुँह से किस नाते से, वह अपना कह कर बधाई स्वीकार करे। हाय! ३०-४० वर्ष अर्थात् एक पीढ़ी पहले, हममें यह बात नहीं थी। वह अब हो रही है।

सो यदि हम अपने को उन्हीं हिन्दुओं की चली आती संतान मानते हैं जिन्होंने विक्रमीय संवत् चलाया, यदि हमें संसार में रहने का हौसला है, तो हम अपनी सभ्यता के स्तम्भ की रक्षा करें। संवत् की रक्षा में विशेष श्रम करने की आवश्यकता भी नहीं हैं। केवल उसे हम जारी रक्खें—अपने अखबारों में, चिट्ठियों में, कागजातों में हर कहीं उसे और अपनी तिथि को स्थान दें। बस। उत्साहशील पुरुषों को उचित है कि वे जंत्री अच्छे कागजों पर छपवा कर अँगरेजी मदरसों में पढ़े हुए लोगों में बाँटें। "कैलेंडर" में इश्तिहार देने का भी अच्छा जरिया है। यह मानों एक प्रकार का दूत है जो हर वक्त अपना संदेशा सुनाता रहता है। बनिज-व्यापार में अच्छी छपी हुई जंत्रियां बहुत काम देती हैं। हमारे सेठ साहूकार और दूकानदार यदि इस बात पर ध्यान दें तो स्वार्थ और परमार्थ दोनों एक ही साथ सिद्ध हो सकते हैं। धर्म्मपालन और धनलाभ भी साथ ही हो सकता है।

एक और उपाय संवत्-प्रचार का यह है कि संवत् छपे हुए चिट्ठी के कागज बिका करें। कई हिंदू ऐसे हैं जो उनको पसंद करेंगे। रियासतों में भी उनकी बहुत मांग होगी।

यदि काम आसान करना हो तो पक्ष का लिखना छोड़ सकते हैं। श्रावण शुक्ल ५ की जगह २० श्रावण लिखने में कोई हर्ज नहीं।

अपनी जाति की जो पाठशालायें, या मदरसे या कालेज हैं उनमें सब कारोबार संवत् से होना चाहिए। इतिहास की पुस्तकों में अपनी तिथियाँ लिखनी चाहिए और फीस भी अपने महीनों के हिसाब से लेनी चाहिए। हमको हिन्दी के कई पत्रों पर एक छत्र क्रिस्तानी संवत् का आधिपत्य देखकर मानसिक दुख होता है। एक आध बार बहुत लज्जित भी होना पड़ा है। आशा है, हमारे देशी भाई इस विज्ञप्ति पर जरूर ध्यान देंगे। इँगलिस्तान में कुछ आदमी इस समय ऐसे हैं जो अपनी तिथि छोड़ क्रिस्तानी तारीख निज की चिट्ठियों तक में नहीं बर्तते। स्वदेश में तो इसका और भी अधिक पालन होना चाहिए।

१९०८

* * *

कृषि सुधार

श्रीयुत (माननीय) गोविन्दबल्लभ पन्त

कला-कौशल को छोड़कर केवल कृषि-कर्म से किसी देश की आर्थिक उन्नति नहीं हो सकती। परन्तु कला-कौशल के लिए भी पहले असिद्ध पदार्थ—कच्चे बाने—ही की आवश्यकता होती है। और ये पदार्थ किसी न किसी

दशा में जमीन ही से निकलते हैं। ऊनी कपड़ा ऊन से बनता है। ऊन भेड़ों के रोम से बनाया जाता है। भेंड़ी जमीन में उगे हुए घास-पात खाकर जीती है। जब तक कपास अच्छी और सुलभ न होगी तब तक उसकी रुई का कपड़ा भी सुन्दर और सस्ता न होगा। अर्थात् कला-कौशलों की सफलता के लिए भी कृषिकर्म ही प्रधान है। परन्तु जब हम देखते हैं कि भारतवासियों का मुख्य जीवनाधार खेती ही है और यहाँ १०० में ८० मनुष्य खेती ही से निर्वाह करते हैं, तब यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि कृषिकर्म में सुधार करने की बड़ी ही आवश्यकता है। हमारे देश के विद्वान अर्थशास्त्रवेत्ताओं का कथन है कि जब तक कृषि में यथेष्ट सुधार न होंगे तब तक ७ करोड़ भारतवासियों को दिन में दो बार भोजन न प्राप्त होगा। यदि कला-कौशल की इतनी बृद्धि हो जाय कि ३ करोड़ आदमी कृषि को छोड़कर अन्य व्यवसायों में प्रवृत्त हो जायँ तो भी सौ पीछे सत्तर आदमी खेती ही से जीवन निर्वाह करेंगे। अस्तु भारतवर्ष जब तक कृषि में उन्नति न करेगा तब तक उसकी पूरी उन्नति न होगी।

परन्तु खेती सबसे अधिक अनिश्चित व्यवसाय है। पहले तो वह इन्द्र महाराज के अधीन है। यदि उनकी कृपादृष्टि न हुई तो--अतिवृष्टि या अनावृष्टि से--लाखों आदमियों का गला कटे बिना न रहेगा। कुछ ही समय हुए पूर्वी बंगाल में बड़ा ही भंयकर दृश्य दिखाई दिया था। इन प्रान्तों में भी इस साल घोर दुर्भिक्ष है। इस शोचनीय अवस्था का वर्णन नहीं किया जा सकता। ऐसे समय में "तदर्द्धं कृषिकर्मणि" की बात बिलकुल मिथ्या मालूम होती है।

इसके अतिरिक्त कृषिकर्म में और भी अनेक बाधायें हैं। पृथ्वी की स्वाभाविक द्रव्योत्पादक शक्ति प्रतिवर्ष घटती जाती है। अन्न कुछ स्वाभाविक पदार्थों के योग से समय पर जल पाने से पैदा होता है। ये रासायनिक पदार्थ जमीन में प्रतिवर्ष कम होते जाते हैं। यदि २० आदमी इस साल किसी पुराने खेत में ८० मन अनाज पैदा करें और साल भर तक उस खेत की स्थिति वैसी ही रहे तब अगले साल उतने ही आदमी उतना ही अनाज कठिनता से पैदा कर सकेंगे। कल्पना कीजिए कि इस साल हर कृषक को चार चार मन अन्न मिला। परन्तु भविष्य में जैसे जैसे उनकी संख्या बढ़ेगी वैसे ही वैसे हर एक का हिस्सा घटता जायगा। यदि ५ वर्ष बाद उस खेत में २५ किसान काम करें तो वे १०० मन नहीं बल्कि ९५ मन--पैदा कर सकेंगे। इसको उत्पत्तिह्रासनियम (Law of diminishing returns) कहते हैं। प्रत्येक देश का अन्न यदि वहीं सब न खर्च हो जाय तो और भी मुश्किल होती है। अगर वह अनाज किसी रूप में फिर धरती ही में पड़ गया तो कुछ रासायनिक द्रव्य फिर भी उसमें वापिस आ जाते हैं। पर यदि अनाज विदेश चला गया तो यह शेष भाग भी अपनी जन्मभूमि में नहीं रहने पाता।

अच्छी दशा में हर एक देश क जनसंख्या प्रति वर्ष बढ़ती जाती है। मार्शल और मौल्थस साहब का मत है कि समृद्ध देश की जनसंख्या २५ साल में दूनी हो जाती है। और यदि जमीन के सुधार का कोई उपाय न हुआ तो पूर्वोक्त नियम के अनुसार हर एक का हिस्सा घटता जाता है, यहाँ तक कि किसी दिन पेट भर भी भोजन दुर्लभ हो जाता है। इसी लिए शायद ईश्वर ने हिन्दुओं की संख्या कम कर दी है। १८९१ में यहाँ २०,७७,३१,७२७ हिन्दू थे पर १९०१ में केवल २०,७१,४७,०२६ रह गये। यदि इसी प्रकार और जातियाँ भी घटतीं तो यह तो भरोसा होता कि भाई मरे तो क्या हुआ, कभी पेट भर खाना तो मिलेगा। परन्तु और जातियां तो सब बढ़ीं, केवल हिन्दू ही घटे!

तो क्या सर्वहितकारी ईश्वर ने इन दुखों का कोई उपाय नहीं रखा? यदि कोई उपाय न होता तो अमेरिका और अन्य कृषक देश वैसे ही बुभुक्षित, हीन और क्षीण दशा में होते जैसे कि हमारा हतभाग्य भारतवर्ष है। पर वे बड़े सुख और आनन्द से अपने दिन बिताते हैं, यद्यपि भारतवर्ष से वहाँ जनसंख्या अधिक बढ़ रही है।

इन्द्र महाराज की अधीनता तो वहाँ अब नहरों ने कम कर दी है। कुँओं से और समुद्र से पानी खींचने के लिए उपयुक्त आविष्कार भी वहाँ हो गये हैं और हो रहे हैं। अमेरिका में तो नकली बादल बनाकर पानी भी बरसाया जाता है।

अमेरिका में कृषिशिक्षा भी खूब दी जाती है। वहाँ प्रत्येक संस्थान (प्रान्तिक राज्य) में एक एक सरकारी शिल्प और कृषिशाला है। वहाँ शिल्प और कृषि की, बगैर फीस लिए शिक्षा दी जाती है। जगह जगह नये

नये प्रयोग और परीक्षायें होती हैं। उनकी बदौलत अद्भुत अद्भुत आविष्कार किये जाते हैं। कँटीली घास बे काँटे की पैदा की जा रही है। कडुए फलों की इस तरह कलम की जाती है कि उनमें बड़े-बड़े और मीठे फल पैदा होते हैं। वर्णहीन पौधों में रंगदार बड़े-बड़े फूल खिलाये जाते हैं। देश विदेश से ले जाकर अच्छे-अच्छे फल फूल वहाँ लगाये जाते हैं। ऐसी शिक्षा और उद्योग ने वहाँ स्वाभाविक नियमों का भी उल्लंघन कर दिया है।

विदेश का तो यह हाल है पर भारतवर्ष में घोर निद्रा वर्तमान है। अमेरिका के संयुक्त प्रदेशों की केवल गेहूँ की फसल की कीमत सन् १९०५ में ६,४१,५०,००,००० डालर (१,४८,३०,००,००० पौंड) थी; परन्तु भारतवर्ष के लोगों की साल भर की आमदनी जियादह से जियादह ५९,००,००,००० पौंड है। अमेरिका की जनसंख्या भारतवर्ष से कम है। अतएव भारतवर्ष जैसे कंगाल और जन-बहुल देश में महामारी और अकाल आदि का होना बहुत ही सम्भव है। इसका मूल कारण कृषि की अवनति ही है। कृषि के ही सुधार से यहाँ उन्नति हो सकती है।

(१) कृषि के सुधार का प्रथम उपाय नहरों का खोदना है। जहाँ तक हो सके इतनी नहरें बना देनी चाहिए कि यदि पानी न बरसे तो भी पूरा पूरा अकाल न पड़े। यहाँ नदियाँ बहुत हैं। जमीन भी बहुधा सम है इससे नहरों के लिए अच्छा सुभीता है। परन्तु पानी पर कर बहुत कम लगाना चाहिए। जल से किसानों को जितना लाभ हो सकता है यदि उससे अधिक कर देना पड़ा तो उससे कुछ फायदा नहीं। जहाँ तक हो सके लोगों को नहरें अपने रुपये से बनानी चाहिए, नहीं तो बारी-दुआब का सा हाल होगा।

(२) कृषि शिक्षा के लिए एक एक मध्यस्थ विद्यालय प्रत्येक प्रान्त में होना चाहिए और उसकी एक एक शाखा हर एक जिले में खोलनी चाहिए। शिवपुर या कानपुर में कृषिशाला बनाने से सारे देश को लाभ नहीं पहुँच सकता। राजपूताने की मरुभूमि और बंगाल के दलदल को देखिए। जो आविष्कार राजपूताने के लिए उपयोगी होंगे उनसे बंगाल को लाभ न होगा। संयुक्त प्रान्त में जो पदार्थ सहज में कानपुर में हो सकते हैं क्या वैसी ही सुगमता से वे नैनीताल और हरदोई और आगरा में भी हो सकते हैं? जब तक ऐसी शालायें सारे देश में न बन जायँ, विद्यार्थियों को कृषिशिक्षा के लिए विदेश भेजना चाहिए।

(३) खेती के लायक देश में जितनी जमीन है उसकी परीक्षा होनी चाहिए। इससे यह मालूम हो जायगा कि कौन भाग किस पदार्थ के लिए उपयुक्त है। अनन्तर अनुभव के अनुसार कृषिविद्या पर पुस्तकें लिखी जायँ जिनमें हर एक सूबे के विशेष अभावों का वर्णन रहे। वहाँ जिन परिवर्तनों की आवश्यकता हो उन पर जोर दिया जाय। ये पुस्तकें फिर सब जमीदारों को भेजी जायँ।

(४) अनाज बोने और बेचने के समय किसानों को सहायता देने के लिए सभायें स्थापित करनी चाहिए। ऐसी सभाओं और समाजों की सहायता से बहुत लाभ होता है। ऐसे ही समाजों की सहायता से इंगलैंड में, सन् १८९४ में, जिस जमीन में प्रायः पचास लाख पौंड की पैदावार हुई थी उसमें सन् १९०३ में प्रायः डेढ़ करोड़ पौंड की पैदावार हुई। आयरलैंड हर तरह प्रायः भारतवर्ष के समान है। सन् १८९४ में वहाँ प्रायः डेढ़ लाख पौंड की पैदावार हुई थी। परन्तु ऐसे समाजों की सहायता से सन् १९०३ में, प्रायः ११ लाख की आमदनी हुई थी। इसके सिवा इन समाजों का मुख्य काम किसानों के कर्ज के बोझ को हलका करने का और जरूरत के वक्त पर उनको थोड़े ब्याज में रुपये देने का भी होना चाहिए। ऐसे समाज यहाँ भी गवर्नमेंट की कृपा से बन रहे हैं। परन्तु जब तक २०-२५ गाँवों को मिलाकर एक सभा न हो जायगी तब तक विशेष लाभ न होगा।

(५) अनाज को हेर फेर कर जमीन में बोना चाहिए। बड़े बड़े गाँवों में जहाँ पहले चाय होती थी, अब भी चाय होती है। पर चाय का भाव इतना घट गया है कि यदि वहाँ अनाज बोया जाय तो और भी आमदनी हो। अनाज की जगह गन्ना बोया जाय तो और भी अधिक आमदनी हो और यदि गन्ने की जगह कपास पैदा की जाय तो फिर क्या कहना है? भिन्न-भिन्न जिनसों के लिए भिन्न भिन्न रसायनिक पदार्थ उपयोगी होते हैं। जमीन से पैदा होनेवाले पदार्थों में एक प्रकार की विशेषता है। कल्पना कीजिए कि एक 'क' नामक पदार्थ जमीन से 'अ' नामक रासायनिक द्रव्य को बहुत लेता है 'ब' को बहुत कम। परन्तु एक 'ख' नामक पदार्थ ऐसा है जो 'ब' को अधिक लेता है। अब बहुत दिनों तक यदि किसी खेत में 'क' की खेती

खती की जाय तो 'अ' पदार्थ के न रहने से वह खेत 'क' के लिए बिलकुल निरुपयोगी हो जायगा। पर 'ख' के लिए बहुत उपजाऊ होगा। इसीलिए बहुत दिनों तक एक ही बीज न बोना चाहिए।

(६) अपने देश का अनाज जहाँ तक हो विदेश न भेजना चाहिए। इससे देश के रासायनिक पदार्थ यहीं रहेंगे।

(७) किसानों को शिक्षा देनी चाहिए। यदि उनके खाने के लिए काफी अन्न न उपजे तो २, ४ साल तक उनसे कम लगान लेना चाहिए। जब किसान अच्छी हालत में हो जायँ तब अधिक लगान लिया जाय, नहीं तो किसानों की सन्तान और भी बलहीन होती जायगी और जमीन की पैदावार घटती जायगी।

(८) जैसे जैसे आबादी बढ़े नई जमीन को आबाद करनेवालों को विशेष अधिकार देने चाहिए। क्योंकि उसे आबाद करने में बहुत मिहनत पड़ती है। पुरानी जमीन को बिना थोड़े से लालच के छोड़ना भी कठिन होता है।

(९) कुछ मनुष्यों को स्थान-स्थान पर भ्रमण करके कृषिसुधार पर व्याख्यान देने चाहिए। ऐसे उपदेशक आजकल बरौदा में बहुत हैं।

(१०) जमीदारों को सदैव नये नये आविष्कारों से लाभ उठाना चाहिए। जब तक सरकार उस काम को न करे उन्हींको करना चाहिए और अपनी जमीन में अनेक प्रकार की परीक्षायें करनी चाहिए। यदि वे ऐसा न करेंगे तो यहाँकी टूटी-फूटी खेती का भी थोड़े समय में नाश हो जायगा।

थोड़े वर्ष पहले भारतवर्ष से सैकड़ों मन चीनी विदेश जाती थी। पर जब से चुकन्दर की चीनी जर्मनी में बनने लगी, यहाँकी चीनी का रोजगार मारा गया। १८०५-०६ में हमने ७ करोड़ की चीनी विदेश से खरीदी। १८९५ में यहाँ चीनी के २४७ कारखाने थे। पर १९०४ में केवल २८ ही रह गये। विदेश में चीनी बनाने की नयी-नयी कलें ईजाद की गयीं। चुकन्दर से क्षुद्र पदार्थों से चीनी बनने लगी। पर हमारे यहाँ तो दादा के समय का कोल्हू प्रलय तक रहेगा। ऐसी दशा में व्यवसाय में सफलता कैसे हो सकती है। "तातस्य कूपोयमिति ब्रुवाणाः क्षारं जलं कापुरुषाः पिबन्ति।"—इसे जानकर भी हम लकीर के फकीर बने ही रहे। यदि हम खेती को उसी पुराने ढंग से करेंगे तो हमें किसी व्यवसाय में सफलता न होगी।

अमेरिका में बरबैंक साहब ऐसा यत्न कर रहे हैं कि गेहूँ की हर एक बाल में १०, १२ दाने और बढ़ जायँ और गेहूँ का दाना दूना हो जाय। पर हमारे यहाँ दाना और बाल दोनों छोटे होते जा रहे हैं। यदि वे इस कार्य में सफल हुए तो अमेरिका में गेहूँ खूब सस्ता हो जायगा। यदि गेहूँ का भाव अमेरिका में इतना घट गया, कि वह विदेश में और भारतवर्ष में भी यहाँ के गेहूँ से भी कम दाम में बिकने लगा तो बतलाइये आपके गेहूँ को कौन लेगा। न इधर के रहे न उधर के रहे। न खेती रही न कलाकौशल ही रहा।

प्लेटो, डारविन आदि महापुरुषों के कथनानुसार संसार में वही पुरुष रह सकते हैं जो सबसे अधिक योग्य और शक्तिशाली होते हैं। यदि यह बात सच है और भारतवर्ष ऐसे ही बराबर डूबता चला गया तो दुनिया में किसी समय हमारा नामोनिशान भी न रहेगा।

१९०८

❀ ❀ ❀

कविता क्या है ?

पं० रामचन्द्र शुक्ल

कविता से मनुष्य-भाव की रक्षा होती है। सृष्टि के पदार्थ या व्यापार-विशेष को कविता इस तरह व्यक्त करती है मानो वे पदार्थ या व्यापार-विशेष नेत्रों के सामने नाचने लगते हैं। वे मूर्तिमान दिखाई देने लगते हैं। उनकी

उत्तमता का विवेचन करने में बुद्धि से काम लेने की जरूरत ही नहीं पड़ती। कविता की प्रेरणा से मनोवेगों* के प्रवाह जोर से बहने लगते हैं। तात्पर्य यह कि कविता मनोवेगों को उत्तेजित करने का एक उत्तम साधन है। यदि क्रोध,करुणा, दया, प्रेम आदि मनोभाव मनुष्य के अन्तःकरण से निकल जायँ तो वह कुछ भी नहीं कर सकता। कविता हमारे मनोभावों को उच्छ्वसित करके हमारे जीवन में एक नया जीव डाल देती है; हम सृष्टि के सौन्दर्य को देख कर मोहित होने लगते हैं; कोई अनुचित या निष्ठुर काम हमें असह्य होने लगता है। हमें जान पड़ता है कि हमारा जीवन कई गुना अधिक होकर समस्त संसार में व्याप्त हो गया है।

कार्य्य में प्रवृत्ति

कविता की प्रेरणा से कार्य में प्रवृत्ति बढ़ जाती है। केवल विवेचना के बल से हम किसी कार्य में बहुत कम प्रवृत्त होते हैं। केवल इस बात को जानकर ही हम किसी काम के करने या न करने के लिए प्रायः तैयार नहीं होते कि वह काम अच्छा है या बुरा, लाभदायक है या हानि-कारक। जब उसकी या उसके परिणाम की कोई ऐसी बात हमारे सामने उपस्थित हो जाती है जो हमें आह्लाद,क्रोध और करुणा आदि से विचलित कर देती है तभी हम उस काम को करने या न करने के लिए प्रस्तुत होते हैं। केवल बुद्धि हमें काम करने के लिए उत्तेजित नहीं करती। काम करने के लिए मन ही हमको उत्साहित करता है। अतः कार्य्य-प्रवृत्ति के लिए मन में वेग का आना आवश्यक है। यदि किसी से कहा जाय कि अमुक देश तुम्हारा इतना रुपया प्रति वर्ष उठा ले जाता है, इसीसे तुम्हारे यहाँ अकाल और दारिद्र्य बना रहता है, तो सम्भव है कि उस पर कुछ प्रभाव न पड़े। पर यदि दारिद्र्य और अकाल का भीषण दृश्य दिखाया जाय, पेट की ज्वाला से जरे हुए प्राणियों के अस्थिपञ्जर सामने पेश किये जायँ, और भूख से तड़पते हुए बालक के पास बैठी हुई माता का आर्त्तस्वर सुनाया जाय तो वह मनुष्य क्रोध और करुणा से विह्वल हो उठेगा और इन बातों को दूर करने का यदि उपाय नहीं तो संकल्प अवश्य करेगा। पहले प्रकार की बात कहना राजनीतिज्ञ का काम है और पिछले प्रकार का दृश्य दिखाना कवि का कर्त्तव्य है। मानव-हृदय पर दोनों में से किसका अधिकार अधिक हो सकता है, यह बतलाने की आवश्यकता नहीं।

मनोरंजन और स्वभाव-संशोधन

कविता के द्वारा हम संसार के सुख, दुःख, आनन्द और क्लेश आदि यथार्थ रूप से अनुभव कर सकते हैं। किसी लोभी और कंजूस दुकानदार को देखिए जिसने लोभ के वशीभूत होकर क्रोध, दया, भक्ति आत्माभिमान आदि मनोविकारों को दबा दिया है और संसार के सब सुखों से मुँह मोड़ लिया है। अथवा किसी महाक्रूर राजकर्मचारी के पास जाइए जिसका हृदय पत्थर के समान जड़ और कठोर हो गया है, जिसे दूसरे के दुःख और क्लेश का अनुभव स्वप्न में भी नहीं होता। ऐसा करने से आप के मन में यह प्रश्न अवश्य उठेगा कि क्या इनकी भी कोई दवा है। ऐसे हृदयों को द्रवीभूत करके उन्हें अपने स्वाभाविक धर्म पर लाने का सामर्थ्य काव्य ही में है। कविता ही उस दुकानदार की प्रवृत्ति भौतिक और आध्यात्मिक सृष्टि के सौन्दर्य की ओर ले जायगी; कविता ही उसका ध्यान औरों की आवश्यकता की ओर आकर्षित करेगी और उनकी पूर्ति करने की इच्छा उत्पन्न करेगी; कविता ही उसे उचित अवसर पर क्रोध, दया, भक्ति आत्माभिमान आदि सिखावेगी, इसी प्रकार उस राजकर्मचारी के सामने कविता ही उसके कार्यों का प्रतिबिम्ब खींचकर रक्खेगी और उनकी जघन्यता और भयंकरता का आभास दिखलावेगी; तथा दैवी किंवा अन्य मनुष्यों द्वारा पहुँचाई हुई पीड़ा और क्लेश के सूक्ष्म से सूक्ष्म अंश को दिखला कर उसे दया दिखाने की शिक्षा देगी।

प्रायः लोग कहा करते हैं कि कविता का अन्तिम उद्देश मनोरंजन है। पर मेरी समझ में मनोरंजन उसका अन्तिम उद्देश नहीं है। कविता पढ़ते समय मनोरंजन अवश्य होता है, पर इसके सिवा कुछ और भी होता है। मनोरंजन करना कविता का प्रधान गुण है। इससे मनुष्य का चित्त एकाग्र हो जाता है। इधर उधर जाने नहीं पाता। यही कारण है कि नीति और धर्म सम्बन्धी उपदेश चित्त पर वैसा असर नहीं करते जैसा कि किसी काव्य या उपन्यास से निकली हुई शिक्षा असर करती

---

*इन्हीं मनोवेगों का नाम अलंकारशास्त्र में रस रक्खा गया है।

है। केवल यही कह कर कि "परोपकार करो", "सदैव सच बोलो" "चोरी करना महा पाप है", हम यह आशा कदापि नहीं कर सकते कि कोई अपकारी मनुष्य परोपकारी हो जायगा, झूठा सच्चा हो जायगा, और चोर चोरी करना छोड़ देगा। क्योंकि पहले तो मनुष्य का चित्त ऐसी शिक्षा ग्रहण करने के लिए उद्यत ही नहीं होता, दूसरे मानव-जीवन पर उसका कोई प्रभाव अंकित हुआ न देख कर वह उनकी कुछ परवा नहीं करता। पर कविता अपनी मनोरंजक शक्ति के द्वारा पढ़ने या सुनने वाले का चित्त उचटने नहीं देती, उसके हृदय आदि अत्यन्त कोमल स्थानों को स्पर्श करती है, और सृष्टि में उक्त कर्मों के स्थान और संबन्ध की सूचना देकर मानव जीवन पर उनके प्रभाव और परिणाम को विस्तृत रूप से अंकित करके दिखलाती है। इन्द्रासन खाली कराने का वचन देकर, हूर और गिलमाँ का लालच दिखा कर यमराज का स्मरण दिला कर और दोजख की जलती हुई आग की धमकी देकर हम बहुधा किसी मनुष्य को सदाचारी और कर्त्तव्यपरायण नहीं बना सकते। बात यह है कि इस तरह का लालच या धमकी ऐसा है जिससे मनुष्य परिचित नहीं और जो इतनी दूर की है कि उसकी परवा करना मानव-प्रकृति के विरुद्ध है। सदाचार में एक अलौकिक सौन्दर्य और माधुर्य होता है। अतः लोगों का सदाचार की ओर आकर्षित करने का प्रकृत उपाय यही है कि उनको उसका सौन्दर्य और माधुर्य दिखा कर लुभाया जाय, जिससे वे बिना आगा पीछा सोचे मोहित हो कर उसकी ओर ढल पड़ें।

मन को हमारे आचार्यों ने ग्यारहवीं इन्द्रिय माना है। उसका रञ्जन करना और उसे सुख पहुँचाना ही यदि कविता का धर्म माना जाय तो कविता भी केवल विलास की सामग्री हुई। परन्तु क्या हम कह सकते हैं कि वाल्मीकि का आदि-काव्य, तुलसीदास का रामचरितमानस, या सूर-दास का सूरसागर विलास की सामग्री है। यदि इन ग्रन्थों से मनोरंजन होगा तो चरित्र-संशोधन भी अवश्य ही होगा। खेद के साथ कहना पड़ता है कि हिन्दी भाषा के अनेक कवियों ने शृंगार रस की उन्मादकारिणी उक्तियों से साहित्य को इतना भर दिया है कि कविता भी विलास की एक सामग्री समझी जाने लगी है। पीछे से तो ग्रीष्मोपचार आदि के नुस्खे भी कवि लोग तैयार करने लगे। ऐसी शृंगारिक कविता को कोई विलास की सामग्री कह बैठे तो उसका क्या दोष? सारांश यह कि कविता का काम मनोरंजन ही नहीं, कुछ और भी है।

चरित्र-चित्रण द्वारा जितनी सुगमता से शिक्षा दी जा सकती है उतनी सुगमता से किसी और उपाय द्वारा नहीं। आदि-काव्य रामायण में जब हम भगवान् रामचन्द्र के प्रतिज्ञा-पालन, सत्यव्रताचरण और पितृभक्ति आदि की छटा देखते हैं; भरत के सर्वोच्च स्वार्थत्याग और सर्वांगपूर्ण सात्विक चरित का अलौकिक तेज देखते हैं, तब हमारा हृदय श्रद्धा, भक्ति और आश्चर्य से स्तम्भित हो जाता है। इसके विरुद्ध जब हम रावण की दुष्टता और उद्दंडता का चित्र देखते हैं तब समझते हैं कि दुष्टता क्या चीज है और उसका प्रभाव और परिणाम सृष्टि में क्या है। अब देखिए कविता द्वारा कितना उपकार होता है। उसका काम भक्ति, श्रद्धा, दया, करुणा, क्रोध और प्रेम आदि मनोवेगों को तीव्र और परिमार्जित करना तथा सृष्टि की वस्तुओं और व्यापारों से उनका उचित और उपयुक्त संबंध स्थिर करना है।

कविता की आवश्यकता

कविता इतनी प्रयोजनीय वस्तु है कि संसार की सभ्य और असभ्य सभी जातियों में पाई जाती है। चाहे इतिहास न हो, विज्ञान न हो, दर्शन न हो, पर कविता अवश्य ही होगी। इसका क्या कारण है? बात यह है कि संसार के अनेक कृत्रिम व्यापारों में फँसे रहने से मनुष्य की मनुष्यता जाती रहने का डर रहता है। अतएव मानुषी प्रकृति को जागृत रखने के लिए ईश्वर ने कविता रूपी ओषधि बनाई है। कविता यही प्रयत्न करती है कि प्रकृति से मनुष्य की दृष्टि फिरने न पावे। जानवरों को इसको जरूरत नहीं।

सृष्टि और सौन्दर्य्य

कविता सृष्टि-सौन्दर्य का अनुभव कराती है और मनुष्य को सुन्दर वस्तुओं में अनुरक्त करती है। जो कविता रमणी के रूप-माधुर्य्य से हमें आह्लादित करती है वही उसके अन्तःकरण की सुन्दरता और कोमलता आदि की मनोहारिणी छाया दिखा कर मुग्ध भी करती है। जिस बंकिम की लेखनी ने गढ़ के ऊपर बैठी हुई राजकुमारी तिलोत्तमा के अंग प्रत्यंग की शोभा को अंकित किया है उसी ने आयशा के अन्तःकरण की

अपूर्व सात्विकी ज्योति दिखा कर पाठकों को चमत्कृत किया है। भौतिक सौन्दर्य के अवलोकन से हमारी आत्मा को जिस प्रकार सन्तोष होता है उसी प्रकार मानसिक सौन्दर्य से भी। जिस प्रकार वन, पर्वत, नदी झरना आदि से हम प्रफुल्लित होते हैं उसी प्रकार मानवी अन्तःकरण में प्रेम, दया, करुणा, भक्ति आदि मनोवेगों के अनुभव से हम आनन्दित होते हैं और यदि इन दोनों पार्थिव और अपार्थिव सौन्दर्यों का कहीं संयोग देख पड़े तो फिर क्या कहना है। यदि किसी अत्यन्त सुन्दर पुरुष या अत्यन्त रूपवती स्त्री के रूप-मात्र का वर्णन करके हम छोड़ दें तो चित्र अपूर्ण होगा, किन्तु यदि हम साथ ही उसके हृदय की दृढ़ता और सत्यप्रियता अथवा कोमलता और स्नेहशीलता आदि की भी झलक दिखावें तो उस वर्णन में सजीवता आ जायगी। महाकवियों ने प्रायः इन दोनों सौन्दर्यों का मेल कराया है जो किसी किसी को अस्वाभाविक प्रतीत होता है। किन्तु संसार में प्रायः देखा जाता है कि रूपवान् जन सुशील और कोमल होते हैं और रूपहीन जन क्रूर और दुःशील। इसके सिवा मनुष्य के आन्तरिक भावों का प्रतिविम्ब भी चेहरे पर पड़ कर उसे रुचिर या अरुचिर बना देता है। पार्थिव सौन्दर्य का अनुभव करके हम मानसिक अर्थात् अपार्थिव सौन्दर्य की ओर आकर्षित होते है। अतएव पार्थिव सौन्दर्य को दिखलाना कवि का प्रधान कर्म्म है।

कविता की भाषा

मनुष्य स्वभाव ही से प्राचीन पुरुषों और वस्तुओं को श्रद्धा की दृष्टि से देखता है। पुराने शब्द हम लोगों को मालूम ही रहते हैं। इसी से कविता में कुछ न कुछ पुराने शब्द आ ही जाते हैं। उनका थोड़ा बहुत बना रहना अच्छा भी है। वे आधुनिक और पुरातन कविता के बीच सम्बन्ध-सूत्र का काम देते हैं। हिन्दी में "राजते हैं", "गहते हैं", "लहते हैं", "सरसाते है", आदि प्रयोगों का खड़ी बोली तक की कविता में बना रहना कोई अचम्भे की बात नहीं। अँगरेजी-कविता में भी ऐसे शब्दों का अभाव नहीं जिनका व्यवहार बहुत पुराने जमाने से कविता में होता आया है। 'Main' 'Swain' आदि शब्द ऐसे ही हैं। अँगरेजी-कविता समझने के लिए इन से परिचित होना पड़ता है। पर ऐसे शब्द बहुत थोड़े आने चाहिए; वे भी ऐसे जो भद्दे और गँवारू न हों। खड़ी बोली में संयुक्त क्रियाएँ बहुत लम्बी होती हैं; जैसे--"लाभ करते हैं", "प्रकाश करते हैं" आदि। कविता में इनके स्थान पर "लहते हैं", "प्रकाशते हैं," कर देने से कोई हानि नहीं, पर यह बात इस तरह के सभी शब्दों के लिए ठीक नहीं हो सकती।

कविता में कही गई बात हृत्पटल पर अधिक स्थायी होती है। अतः कविता में प्रत्यक्ष और स्वभावसिद्ध व्यापार-सूचक शब्दों की संख्या अधिक रहती है। समय बीता जाता है कहने की अपेक्षा, समय भागा जाता है, कहना अधिक काव्यसम्मत है। किसी काम से हाथ खींचना, किसी का रुपया खा जाना, कोई बात पी जाना, दिन ढलना या डूबना, मन मारना, मन छूना, शोभा बरसना, आदि ऐसे ही कवि-समय-सिद्ध वाक्य हैं जो बोल-चाल में आ गये हैं। नीचे कुछ पद्य उदाहरण-स्वरूप दिये जाते हैं :--

(क) धन्य भूमि वन पंथ पहारा।
जहँ जहँ नाथ **पावँ तुम धारा**॥ तुलसीदास

(ख) मनहुँ उमगि अँग अँग छवि **छलकै**। तुलसीदास, गीतावली।

(ग) चूनरि चारु **चुई सी परै** चटकीली हरी अँगिया ललचावे।

(घ) बीथिन में ब्रज में नवेलिन में बेलिन में बनन में बागन में **बगरो** बसंत है। पद्माकर।

(ङ) रंग रंग रागन पै, संग ही परागन पै, वृन्दावन बागन पै, बसंत **बरसो** परै।

बहुत से ऐसे शब्द हैं जिनसे एक ही का नहीं किन्तु कई क्रियाओं का एक ही साथ बोध होता है। ऐसे शब्दों को हम जटिल शब्द कह सकते हैं। ऐसे शब्द वैज्ञानिक विषयों में अधिक आते हैं। उनमें से कुछ शब्द तो एक विलक्षण ही अर्थ देते हैं और पारिभाषिक कहलाते हैं। विज्ञानवेत्ता को किसी बात की सत्यता या असत्यता के निर्णय की जल्दी रहती है। इससे वह कई बातों को एक मान कर अपना काम चलाता हे; प्रत्येक काम को पृथक् पृथक् दृष्टि से नहीं देखता। यही कारण है जो वह ऐसे शब्द अधिक व्यवहार करता है जिनसे कई क्रियाओं से घटित एक ही भाव का अर्थ निकलता है। परन्तु कविता प्राकृतिक व्यापारों को कल्पना द्वारा प्रत्यक्ष कराती है--मानव-हृदय पर अंकित करती है। अतएव पूर्वोक्त प्रकार के शब्द अधिक लाने से कविता के प्रसाद गुण की हानि

होती है और व्यक्त किये गये भाव हृदय पर अच्छी तरह अंकित नहीं होते। बात यह है कि मानवी कल्पना इतनी प्रशस्त नहीं कि एक दो बार में कई व्यापार उसके द्वारा हृदय पर स्पष्ट रीति से खचित हो सकें। यदि कोई ऐसा शब्द प्रयोग में लाया गया जो कई संयुक्त व्यापारों का बोधक है तो सम्भव है, कल्पना-शक्ति किसी एक व्यापार को भी न ग्रहण कर सके, अथवा तदन्तर्गत कोई ऐसा व्यापार प्रकट करे जो मानवी प्रकृति का उद्दीपक न हो। तात्पर्य यह कि पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग तथा ऐसे शब्दों का समावेश जो कोई संयुक्त व्यापारों की सूचना देते हैं, कविता में वाञ्छित नहीं।

श्रुतिसुखदता

कविता की बोली और साधारण बोली में बड़ा अन्तर है। "शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे" और "नीरसतरुरिह विलसति पुरतः" वाली बात हमारी पण्डित-मण्डली में बहुत दिन से चली आती है। भाव-सौन्दर्य और नाद-सौन्दर्य दोनों के संयोग से कविता की सृष्टि होती है। श्रुति-कटु मान कर कुछ अक्षरों का परित्याग, वृत्त-विधान और अन्त्यानुप्रास का बन्धन, इसी नाद-सौन्दर्य के निबाहने के लिए हैं। बिना इसके कविता करना, अथवा केवल इसी को सर्वस्व मान कर कविता करने की कोशिश करना, निष्फल है। नाद-सौन्दर्य के साथ भाव-सौन्दर्य भी होना चाहिए। हिन्दी के कुछ पुराने कवि इस नाद-सौन्दर्य के इतना पीछे पड़ गये थे कि उनकी अधिकांश कविता विकृत और प्रायः भाव-शून्य हो गई है। यह देख कर आजकल के कुछ समालोचक इतना चिढ़ गये हैं कि ऐसी कविता को एक दम निकाल बाहर करना चाहते हैं। किसी को अन्त्यानुप्रास का बन्धन खलता है; कोई गणात्मक छन्दों को देख कर नाक भौं चढ़ाता है; कोई फारसी के मुखम्मस और रुबाई की ओर झुकता है। हमारी छन्दोरचना तक की कोई कोई अवहेलना करते हैं—वह छन्दोरचना जिसके माधुर्य को भू-मण्डल के किसी देश का छन्दःशास्त्र नहीं पा सकता और जो हमारी श्रुति-सुखदता के स्वाभाविक प्रेम के सर्वथा अनुकूल है। जो लोग अत्यानुप्रास की बिलकुल आवश्यकता नहीं समझते, उनसे मुझे यही पूछना है कि अन्त्यानुप्रास ही पर इतना कोप क्यों? छन्द (Metre) और तुक (Rhyme) दोनों ही नाद-सौन्दर्य के उद्देश से रक्खे गये हैं। फिर क्यों एक निकाला जाय, दूसरा नहीं? यदि कहा जाय कि सिर्फ छन्द ही से उस उद्देश की सिद्धि हो जाती है तो यह जानने की इच्छा बनी रहती है कि क्या कविता के लिए नाद-सौन्दर्य की कोई सीमा नियत है। यदि किसी कविता में भाव-सौन्दर्य के साथ नाद-सौन्दर्य भी वर्तमान हो तो वह अधिक ओजस्विनी और चिरस्थायिनी होगी। नाद-सौन्दर्य कविता के स्थायित्व का वर्द्धक है, उसके बल से कविता ग्रंथाश्रय-विहीन होने पर भी किसी न किसी अंश में लोगों की जिह्वा पर बनी रहती है। अतएव इस नाद-सौन्दर्य को केवल बन्धन ही न समझना चाहिए। यह कविता की आत्मा नहीं तो शरीर अवश्य है।

नाद-सौन्दर्य-सम्बन्धी नियमों को गणित-क्रिया समान काम में लाने से हमारी कविता में कहीं कहीं बड़ी विलक्षणता आ गई है। श्रुति-कटु वर्णों का निर्देश इस लिए नहीं किया गया कि जितने अक्षर श्रवण-कटु हैं, वे एक दम त्याज्य समझे जायँ और उनकी जगह पर श्रवण-सुखद वर्ण ढूंढ़ ढूंढ़ कर रक्खे जायँ। इस नियम-निर्देश का मतलब सिर्फ इतना ही है कि यदि मधुराक्षर वाले शब्द मिल सकें और बिना तोड़ मरोड़ के प्रसंगानुसार खप सकें तो उनके स्थान पर श्रुति-कर्कश अक्षर वाले शब्द न लाये जायँ। संस्कृत से सम्बन्ध रखने वाली भाषाओं में इस नाद-सौन्दर्य का निर्वाह अधिकता से हो सकता है। अतः अँगरेजी आदि अन्य भाषाओं की देखा-देखी, जिनमें इसके लिए कम जगह है, अपनी कविता को भी हमें इस विशेषता से वंचित कर देना बुद्धिमानी का काम नहीं। पर, याद रहे, सिर्फ श्रुति-मधुर अक्षरों के पीछे दीवाने रहना और कविता को अन्यान्य गुणों से भूषित न करना सब से बड़ा दोष है।

एक और विशेषता हमारी कविता में है। वह यह है कि कहीं कहीं व्यक्तियों के नामों के स्थान पर उनके रूप या कार्यबोधक शब्दों का व्यवहार किया जाता है। पद्य के नपे हुए चरणों के लिए शब्दों की संख्या का बढ़ाना ही इसका प्रयोजन जान पड़ता है। पर विचार करने से इसका इससे भी गुरुतर उद्देश प्रकट होता है। सच पूछिए तो यह बात कृत्रिमता बचाने के लिए की जाती है। मनुष्यों के नाम यथार्थ में कृत्रिम संकेत हैं जिनसे कविता की परि-पोषकता नहीं होती। अतएव कवि मनुष्यों के नामों के स्थान पर कभी कभी उनके ऐसे रूप, गुण या व्यापार की ओर इशारा करता है जो स्वाभाविक होने के कारण सुनने वाले के ध्यान में अधिक आ सकते हैं और प्रसंग

विशेष के अनुकूल होने से वर्णन की यथार्थता को बढ़ाते हैं। गिरिधर, मुरारि, त्रिपुरारि, दीनबन्धु, चक्रपाणि, दशमुख आदि शब्द ऐसे ही हैं। ऐसे शब्दों को चुनते समय प्रसंग या अवसर का ध्यान अवश्य रखना चाहिए। जैसे, यदि कोई मनुष्य किसी दुर्धर्ष अत्याचारी के हाथ से छुटकारा पाना चाहता हो तो उसके लिए "हे गोपिकारमण !" "हे वृन्दावन-विहारी !" आदि कह कर कृष्ण को पुकारने की अपेक्षा "हे मुरारि", "हे कंसनिकंदन !" आदि सम्बोधनों से पुकारना अधिक उपयुक्त है। क्योंकि श्रीकृष्ण के द्वारा मुर और कंस आदि दुष्टों का मारा जाना देख कर उसे उनसे अपनी रक्षा की आशा हुई है, न कि उनका वृन्दावन में गोपियों के साथ विहार करना देख कर। इसी तरह किसी आपत्ति से उद्धार पाने के लिए कृष्ण को, "मुरलीधर" कह कर पुकारने की अपेक्षा "गिरिधर" कहना अधिक अर्थसंगत है।

अलंकार

कविता में भाषा को खूब जोरदार बनाना पड़ता है। उसकी सब शक्तियों से काम लेना पड़ता है। कल्पना को चटकीली करने और रसपरिपाक के लिए कभी कभी किसी वस्तु का गुण या आकार बहुत बढ़ाकर दिखाना पड़ता है और कभी घटाकर। कल्पना-तरंग को ऊँचा करने के लिए कभी कभी वस्तु के रूप और गुण को उसके समान रूप और धर्म वाली और और वस्तुओं के सामने लाकर रखना पड़ता है। इस तरह की भिन्न भिन्न प्रकार की वर्णन-प्रणालियों का नाम अलंकार है। इनका उपयोग काव्य में प्रसंगानुसार विशेष रूप से होता है। इनसे वस्तु-वर्णन में बहुत सहायता मिलती है। कहीं कहीं तो इनके बिना कविता का काम ही नहीं चल सकता। किन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि अलंकार ही कविता है। ये अलंकार बोल चाल में भी रोज आते रहते हैं। जैसे, लोग कहते हैं "जिसने शालग्राम को भून डाला उसे भँटा भूँनते क्या लगता है ?" इसमें काव्यार्थापत्ति अलंकार है। "क्या हमसे बैर करके तुम यहाँ टिक सकते हो ?" इसमें वक्रोक्ति है।

अलंकार है क्या वस्तु ? विद्वानों ने काव्यों के सुन्दर सुन्दर स्थलों को पहले चुना। फिर उनकी वर्णन-शैली के सौन्दर्य का कारण ढूंढ़ा। तब वर्णन-वैचित्र्य के अनुसार भिन्न-भिन्न लक्षण बनाये। जैसे "विकल्प" अलंकार को पहले पहल राजानक रुय्यक ने ही निकाला है। अब कौन कह सकता है कि काव्यों के जितने सुन्दर सुन्दर स्थल थे सब ढूँढ़ डाले गये, अथवा जो सुन्दर समझे गये जिन्हें लक्ष्य करके लक्षण बने उनकी सुन्दरता का कारण कही हुई वर्णन-प्रणाली ही थी। अलंकारों के लक्षण बनने तक काव्यों का बनना नहीं रुका रहा। आदि-कवि महर्षि वाल्मीकि ने--"मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः" का उच्चारण किसी अलंकार को ध्यान में रख कर नहीं किया। अलंकार लक्षणों के बनने के बहुत पहले कविता होती थी, और अच्छी होती थी। अथवा यों कहना चाहिए कि जब से इन अलंकारों को हठात् लाने का उद्योग होने लगा तब से कविता कुछ बिगड़ चली।

१९०९

* * *

वररुचि का समय

श्रीयुत बाबूराव पराड़कर

वररुचि के "प्राकृतप्रकाश" नामक व्याकरण ग्रन्थ में महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और पैशाची इन चार मुख्य प्राकृत भाषाओं का वर्णन है। इस ग्रन्थ में आधुनिक मराठी भाषा की जननी प्राचीन महाराष्ट्री भाषा को, और और प्राकृत भाषाओं से अधिक मान और श्रेष्ठत्व दिया गया है। इससे सिद्ध होता है कि जिस समय वररुचि ने "प्राकृतप्रकाश" लिखा उस समय भरत खण्ड में महाराष्ट्री भाषा ही अधिक उन्नत और प्रचलित थी।

यद्यपि वररुचि सब प्राकृत-वैयाकरणों में प्रथम नहीं कहे जा सकते तथापि उनके प्राचीनत्व में शंका नहीं है। संस्कृत-वैयाकरणों में जो मान पाणिनि को दिया जाता है, प्राकृत-वैयाकरणों में वही मान वररुचि को दिया जाता है। प्रायः सभी प्राकृत-वैयाकरणों ने वररुचि ही का अनुकरण किया है और उन्हीं को प्राकृत-शास्त्र का आदि गुरु माना है। शाकल्य, भरत, कोहल और पाणिनि* की गणना आदि गुरुओं में की जाती है। ये लोग वररुचि से प्राचीन मालूम होते हैं। परन्तु इनके ग्रन्थ उपलब्ध न होने के कारण वररुचि ही के ग्रन्थ को आदि-प्राकृत-व्याकरण कहने का रिवाज हो गया है। परन्तु इससे वररुचि के समय का निर्णय नहीं हो सकता—

"रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य"

इस प्रसिद्ध श्लोकांश से यह बात सूचित होती है कि वररुचि एतद्देशीय संस्कृत-पण्डितों के मत से ईसवी सन् के पहले प्रथम शतक में विद्यमान थे। विद्वद्वर्य डाक्टर रामकृष्ण गोपाल भाण्डारकर कृत "दक्षिण का प्राचीन इतिहास" नाम के ग्रन्थ में शातवाहन (शालिवाहन) वंशीय राजाओं के समय महाराष्ट्रीय भाषा की उन्नति का जो वर्णन है उससे वररुचि के समय के सम्बन्ध में प्राचीन पण्डितों का अनुमान सच मालूम होता है। सुप्रसिद्ध इतिहास-लेखक डाक्टर हण्टर भी वररुचि को ईसा के १०० वर्ष पहले का बताते हैं।† अध्यापक लासन के मत से ईसवी सन् के पहले शतक के मध्यकाल में, अर्थात् जिस समय शालवाहन हाल ने सप्तशती नामक प्राकृत-काव्य की रचना की थी, वररुचि का आविर्भाव हुआ था। सोमदेवकृत "कथासरित्सागर" में एक आख्यायिका है कि वररुचि की कही हुई कथायें काणभूति से सुन कर प्रतिष्ठानपुर के राजा शालिवाहन के सभा-पण्डित गुणाढ्य ने "वृहत्कथा" नामक ग्रन्थ की रचना की। इससे सिद्ध होता है कि वररुचि शालिवाहन का समकालीन था या उससे कुछ पहले विद्यमान था। डाक्टर भाण्डारकर ने वररुचि के काल का निर्णय नहीं किया है। पर उनके मत से जिस समय विक्रमादित्य और उसके नवरत्न विद्यमान थे उसी समय वररुचि भी विद्यमान था।* डा० बुल्हर, डा० पिटर्सन और अध्यापक कीलहार्न के मत, तथा लुधियाने के पण्डित ज्वालासहाय ने "एशियाटिक क्वार्टली रिव्यू" (Asiatic Quarterly Review) नामक त्रैमासिक पत्र में विक्रमादित्य पर ५-६ वर्ष पहले जो निबन्ध लिखा था उसमें निर्दिष्ट किये हुए प्रमाण, यदि विश्वसनीय माने जायँ तो वररुचि के समय के विषय में स्वदेशीय पण्डितों तथा डाक्टर हण्टर का मत सत्य मानना पड़ेगा।

बम्बई के सेंट जेवियर कालेज के अध्यापक प्रो० राजाराम रामकृष्ण भागवत कहते हैं कि जिस समय मगध देश में नन्द राज्य करता था उसी समय वररुचि ने "प्राकृत-प्रकाश" बनाया था।" महाराष्ट्रसारस्वत" के लेखक श्रीयुत वि० ल० भावे ने अपने निबन्ध में इसी मत को ग्राह्य माना है। वररुचि जितने प्राचीन ठहरेंगे महाराष्ट्री भाषा भी उतनी ही प्राचीन ठहरेगी।

मैं नहीं जानता किस प्रमाण पर इन दोनों विद्वानों ने वररुचि को विक्रमादित्य से प्राचीन माना है। मैं समझता हूँ कि सोमदेवकृत "कथासरित्सागर" की एक आख्या ही के प्रमाण पर वररुचि, नन्द के समकालीन, अर्थात् शालिवाहन शक के सवा चार सौ वर्ष पहले के, माने गये हैं। सोमदेव के ग्रन्थ में लिखा है कि पाणिनि के सूत्रों के वार्त्तिककार कात्यायन ही वररुचि कहलाते थे और वह मगधपति नन्द के समकालीन थे। पर यह भ्रम है। इस भ्रम को पुष्ट करनेवाली सिंहली लोगों में वंशपरम्परागत एक और आख्यायिका प्रचलित है। यह आख्यायिका इस प्रकार है। सिंहली लोगों की धर्मभाषा पाली है, जिसे

*मलयगिरि और केदारभट्ट नामक दो प्राचीन ग्रन्थकार कहते हैं कि पाणिनि ने भी प्राकृत भाषा का व्याकरण बनाया है। यथा:—"पाणिनिर्भगवान् प्राकृत-लक्षणमपि वक्ति संस्कृतादन्यत्।" (केदारभट्ट)

"प्राकृते हि लिंगं व्यभिचारि यदाह पाणिनिः स्वप्राकृतलक्षणे।" (मलयगिरि)

यह पाणिनि कौन थे और कब हुए, इसका पता नहीं लगता।

† The Prakritas (that is, naturally evolved dialects) found their earliest extant exposition in the Grammar of Vararuchi, about the first century B.C."—W. W. Hunter's Indian Empire, pp. 36.

* The date of this author is uncertain, though there is reason to believe that he was one of the nine gems of the Court of Bikramaditya (Early History of Daccan, pp. 12, 1895 Ed.).

बौद्धों ने "मागधी" की संज्ञा दी है। इस भाषा के "कच्चायणो" नामक किसी विद्वान् ने एक व्याकरण बनाया है। "कच्चायणो" शब्द संस्कृत "कात्यायन" का प्राकृत रूप है। इन दोनों आख्यायिकाओं की एकवाक्यता करने से प्राकृतप्रकाशकार वररुचि, पाली भाषा का व्याकरण बनाने वाले कात्यायन, और वार्त्तिककार कात्यायन वररुचि ये तीनों एक ही मालूम होते हैं। पर यह ठीक नहीं है।

सिंहली आख्यायिका के नायक कच्चायणो (कात्यायन) और प्राकृतप्रकाशकार वररुचि के ग्रन्थों और मतों से साफ मालूम होता है कि ये दोनों एक नहीं हैं। कच्चायण के मत से मागधी (पाली) भाषा सब भाषाओं की मातृस्थानीया है। वह कहता है—

"स मागधी मूल भाषा नरेय आदि कप्पिक।" पर वररुचि महाराष्ट्री भाषा को सारी प्राकृत भाषाओं की जननी मानते हैं। उन्होंने अपने ग्रन्थ में मागधी नामक पाली भाषा का कहीं उल्लेख नहीं किया है। कुछ वर्ष हुए सिंहल की राजधानी कोलम्बो में मिस्टर जेम्स अल्विस ने अँगरेजी अनुवाद सहित कच्चायणकृत पाली व्याकरण का छठा अध्याय छाप कर प्रकाशित किया है। अध्यापक कावेल और वेबर का मत है कि उसके पढ़ने से वररुचि और कच्चायण के भिन्नत्व के विषय में शंका नहीं रहती।*

इसी तरह पाणिनि के सूत्रों पर वार्त्तिक करने वाले कात्यायन वररुचि, और प्राकृतप्रकाशकर्ता वररुचि, के एकत्व के विषय में भी शंका होती है।

(१) वररुचि नाम के एक से अधिक ग्रन्थकारों का होना असम्भव नहीं है। क्योंकि "वररुचि" नाम गुण-विशेष से भी हो सकता है। कथासरित्सागर में इस शब्द की व्युत्पति इस तरह दी है:—

"नाम्ना वररुचिश्चायं तत्तदस्मै हि रोचते।
यद्यद्वरं भवेत्किञ्चित् ....।"
कथापीठ, लंबक १, तरंग २, लोक ७०

इस व्युत्पत्ति से मेरा अनुमान मजबूत होता है। विक्रमादित्य और कालिदास के समान वररुचि नाम के भी एक से अधिक ग्रन्थकार हुए थे। भोज-प्रबन्ध नामक पुस्तक में लिखा है कि धाराधिपति भोजराज की सभा में वररुचि नामक एक विद्वान् था।* यह स्मरण रखने योग्य बात है कि भोजराज के सभा-पण्डितों की नाम-मालिका में सिवा वररुचि के विक्रम के नवरत्नों में से और किसी विद्वान् का नामोल्लेख नहीं किया गया है। इससे सिद्ध है कि नवरत्न वाले वररुचि से जुदा उसी नाम का कोई और पण्डित भोज की सभा में भी था। हलायुधकृत अभिधानरत्नमाला नाम के कोश-ग्रन्थ में एक वररुचि कोशकार का भी उल्लेख है।† अमरकोश के टीकाकारों ने भी अपनी-अपनी टीका में कोशकारों का जो नाम-निर्देश किया है उसके देखने से भी मालूम होता है कि प्राचीन काल में कात्यायन और वररुचि नामक दो भिन्न-भिन्न कोशकार हो गये हैं।‡ अतएव कौन कह सकता है कि विक्रम के नवरत्नों के वररुचि, भोज की सभा के वररुचि और कोशकार वररुचि ये तीनों एक ही थे? इसी तरह कोशकार कात्यायन, नन्द के समयके वार्त्तिककार कात्यायन, स्मृतिकार कात्यायन, अनुक्रमणि-कर्त्ता कात्यायन, और सूत्रकार कात्यायन ये सब एक ही थे और पूर्वोक्त वररुचि से अभिन्न थे, यह कहने का भी शायद ही कोई साहस करेगा। सुतरां मेरी समझ में नाम-सादृश्य से प्राकृतप्रकाशकार और वार्त्तिककार को एक ही व्यक्ति समझना सर्वथा अयोग्य है।

(२) वार्त्तिककार कात्यायन का दूसरा नाम वररुचि होने पर भी यह नहीं सिद्ध होता कि प्राकृत-व्याकरण उसी ने बनाया है। कथासरित्सागर में भी इस बात का कहीं उल्लेख नहीं है। वररुचि और कात्यायन के सम्बन्ध में सोमदेव ने बहुत कुछ उलझन डाल दी है, पर उसका सुलझाना कठिन नहीं। पाणिनि, व्याडि, वार्त्तिककार कात्यायन, महाराज नन्द, चन्द्रगुप्त, शालिवाहन और वृहत्कथा का कर्त्ता गुणाढ्य इन सबको सम-सामयिक

---

* Vide Prakrit Prakash of Vararuchi by E. B. Cowell (2nd edition). Advertisement to the 2nd edition.

* बल्लालकृत भोज-प्रबन्ध पृ० १९ विक्रम शक १९४० में जगदीश्वर छापेखाने में छपी हुई आवृत्ति देखिए।

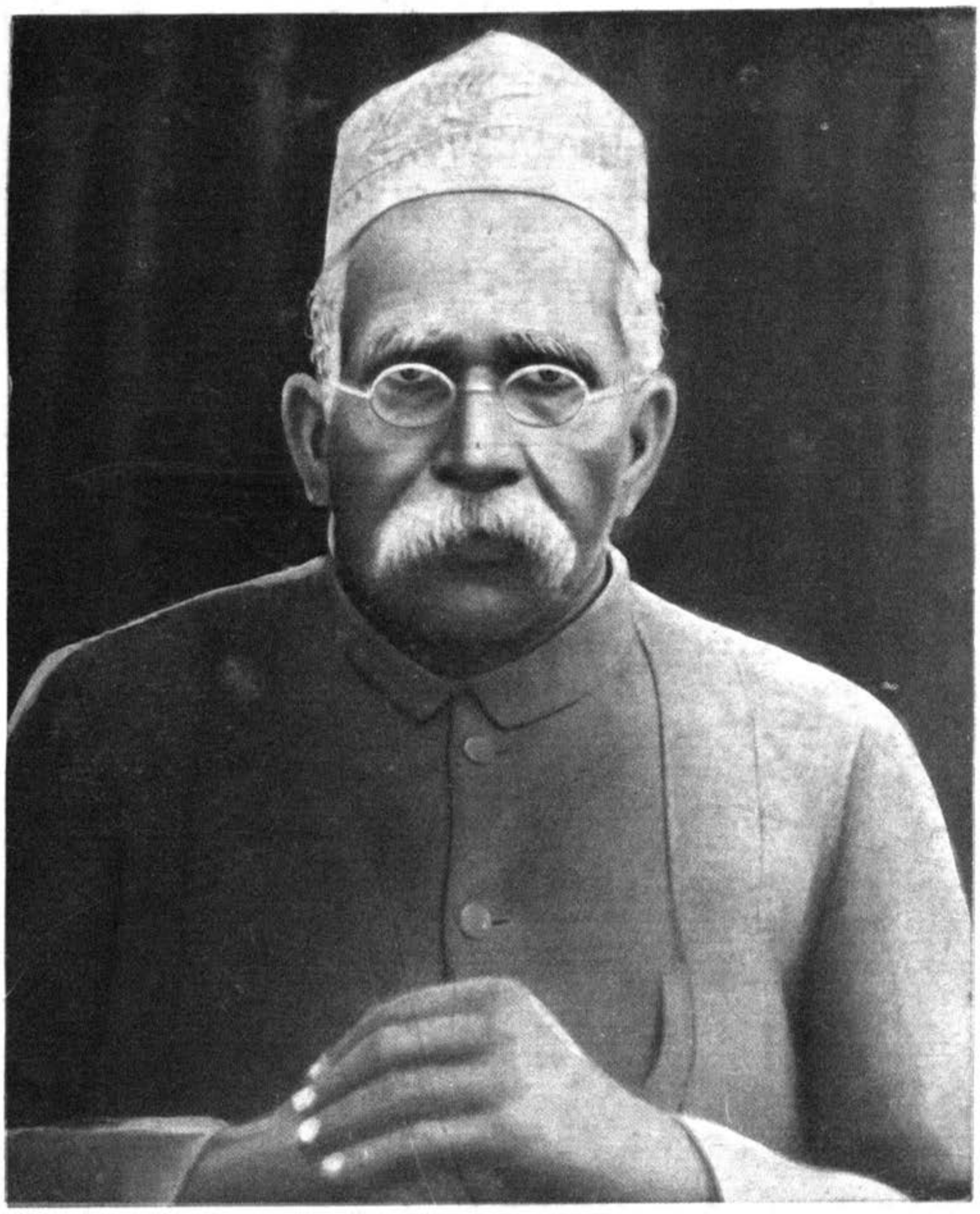
† Vide Preface to Wilson's Sanskrit Dictionary.

‡ सटीक अमरकोश, वामनाचार्य झलकीकरकृत प्रस्तावना, पृष्ठ ४।



प्रकाश और छाया

(चित्रकार--वाणीकान्त दास)



आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी [१९३९

समझने में सोमदेव ने बड़ी भूल की है। भारतवर्षीय प्राचीन इतिहास का जिन्होंने थोड़ा भी अध्ययन किया है वे भी इस बात को मान लेंगे। कई प्रमाणों से यह बात सिद्ध हो चुकी है कि नन्द, चन्द्रगुप्त और कात्यायन ये पाणिनि और व्याडि से अर्वाचीन तथा शालिवाहन और गुणाढ्य से प्राचीन हैं।

(३) प्राकृतप्रकाश वररुचि ने बनाया है, इस बात का उल्लेख उसके प्रत्येक परिच्छेद के अन्त में है।

(४) इस ग्रन्थ की भामहकृत टीका में भी "वररुचि-रचित-प्राकृत-लक्षण-सूत्राणि-लक्ष्य-मार्गण" यह वाक्य लिखा हुआ है। उसमें कात्यायन का नाम नहीं है।

(५) मार्कण्डेय-कवीन्द्र-विरचित प्राकृतसर्वस्व नामक ग्रन्थ के प्रारम्भ में प्राकृतशास्त्र के पूर्वाचार्यों का जो नाम-निर्देश है उसमें लिखा है—

"शाकल्य-भरत-कोहल-वररुचि-भामह-वसन्त-राजाद्यैः।
प्रोक्तान् ग्रन्थान् नानालक्ष्याणि च निपुणमालोक्य॥"
.........मार्कण्डेयकवीन्द्रः प्राकृतसर्वस्वमारभते।"

यहाँ भी वररुचि के नाम से कात्यायन के नाम का सम्बन्ध नहीं है।

(६) वसन्तराजकृत प्राकृतसंजीवनी वगैरह ग्रन्थ वररुचि के ग्रन्थ का अर्थ समझाने के लिए लिखे गये हैं। इनमें भी कोई बात ऐसी नहीं है जिससे प्राकृत-प्रकाशकार और वार्त्तिककार के अभिन्नत्व की कल्पना की जा सके।

(७) प्राकृतप्रकाश में महाराष्ट्रीय भाषा की उन्नति का जो वर्णन है वह उस भाषा को शालिवाहन-वंशीय राजाओं के समय में ही प्राप्त हुई थी। नन्दों के समय में उसकी तरक्की नहीं हुई थी, इस बात का ऐतिहासिक प्रमाण कुछ नहीं मिलता। डाक्टर भाण्डारकर, डाक्टर राजेन्द्रलाल मित्र, अध्यापक मोक्षमूलर, वेबर, बेनफे और जॉन म्यूर आदि सभी का मत है कि नन्दों के समय में पाली-भाषा या उसकी जननी गाथा का अधिक चलन था। प्राचीन शिलालेखों के देखने से मालूम होता है कि जिस समय प्राचीन महाराष्ट्रीय भाषा की उन्नति हो रही थी, प्राचीन पाली भाषा का प्रचार धीरे-धीरे घट रहा था। एक के बाद ही दूसरी का अभ्युदय होने के कारण पाली और महाराष्ट्री भाषाओं में जैसा साम्य देख पड़ता है वैसा ही भेद भी देख पड़ता है। महाराष्ट्री, शौरसेनी और मागधी ये तीनों भाषायें एक ही समय में प्रचलित थीं। तथापि उनमें जो भेद देख पड़ता है वह भिन्न-देशजन्य है। पर पाली और महाराष्ट्री में जो अन्तर है वह कालान्तर-जन्य है। इन अन्तरों का विचार करने से मालूम होता है कि पाली भाषा महाराष्ट्री से पुरानी है।

वररुचि के प्राकृतप्रकाश में प्राचीन पाली भाषा का उल्लेख न होने का शायद यही कारण है कि उस समय उस भाषा का प्रचार न था। पाली भाषा यदि उस समय प्रचलित होती तो वररुचि उसके विषय में कुछ न कुछ अवश्य लिखते। चंडकृत प्राकृतलक्षण नामक एक ग्रन्थ भी मैंने देखा है। इसे कलकत्ते की एशियाटिक सोसाइटी के द्वारा हार्नले साहब ने १८८० में छपाकर प्रकाशित किया था। कई कारणों से यह ग्रन्थ वररुचि के ग्रन्थ से पुराना माना गया है। हेमचन्द्र का प्राकृत-व्याकरण प्रायः चंडकृत प्राकृतलक्षण के आधार पर ही लिखा गया है। इस ग्रन्थ में प्राकृतभाषा के महाराष्ट्री और शौरसेनी भेदों का उल्लेख नहीं है। इसमें जिस प्राकृत भाषा के नियम हैं उससे और महाराष्ट्री भाषा से बहुत कुछ साम्य है, और वह भाषा महाराष्ट्री भाषा से प्राचीन भी मालूम होती है। किं बहुना वह प्राचीन महाराष्ट्री और शौरसेनी भाषा का प्राचीनतम रूप कहा जा सकता है। इतने पर भी चंड के ग्रन्थ में महाराष्ट्री और शौरसेनी भाषाओं का उल्लेख न होने से यह सिद्ध होता है कि जिस समय उसने वह ग्रन्थ लिखा था उस समय में प्रचलित मुख्य प्राकृत भाषा के महाराष्ट्री, शौरसेनी आदि भेद न हुए थे। इन सब बातों का विचार करने से मालूम होता है, कि जैसा मैंने पहले कहा है, वररुचि का व्याकरण ईसवी सन् के प्रारम्भ में, अथवा प्राचीन पण्डितों के मतानुसार विक्रम शक के प्रारम्भ में, बनाया गया था। कई विद्वानों के मत से शालिवाहन शक के तीसरे शतक के बाद प्राकृत-प्रकाशकार का आविर्भाव हुआ था। परन्तु मैं नहीं जानता, किस प्रमाण पर ये योग यह बात कहते हैं।

सारांश, यह कि प्राकृत-प्रकाशकार वररुचि ईसवी सन् के प्रारम्भ में आविर्भूत हुए थे।*

---

*पण्डित सखाराम गणेश देउस्कर के एक लेख का भावार्थ।

१९०९

सतसई-संहार

पं० पद्मसिंह शर्मा

बहुत लोगों की राय है कि किसी कृति में दोषोद्घाटन करना बुरी बात है। मनुष्य का कोई काम सर्वथा निर्दोष हो ही नहीं सकता। इसलिए जिस प्रकार हंस पानी में से दूध ग्रहण कर लेता है, वैसे ही मनुष्य को भी सारग्राही होना चाहिए। अथवा––

धावतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति साधवः॥

अर्थात् दौड़ते हुए आदमी का कहीं गिर जाना सम्भव है, वहाँ बुरे आदमी तो गिरनेवाले को हँसने लगते हैं, और अच्छे आदमी उसे सँभालते हैं।

यह मत बहुत ठीक है, ऐसा ही होना चाहिए। परन्तु जहाँ पानी में दूध बिलकुल ही न हो, या दूध के स्थान में सेलखड़ी या खड़िया मिट्टी घुली हुई हो (जिससे दूध का भ्रम होता हो) वहाँ से हंस क्या ग्रहण करे? और जो आदमी साफ सुथरी सड़क पर चलता हुआ भी बार-बार कदम-कदम पर ठोकर खाकर मुँह के बल गिरता है उसे कोई कहाँ तक सँभाले!! उसे तो यही कहना पड़ेगा कि "भाई! पहले तुम अपना इलाज कराओ, टाँगों में बल आने दो, फिर, चलने की कोशिश करना। तुममें चलने फिरने तक की ताकत तो है नहीं, और तुम आँख मीचकर दौड़ना चाहते हो। यह अच्छा नहीं करते।"

और यदि वह चलने फिरने में असमर्थ आदमी किसी दूसरे पुरुष के ऐसे पात्र को जिसमें कि उस पात्र के स्वामी का सर्वस्वभूत और सर्वोपयोगी कोई रसमय पदार्थ भरा हो, इस दौड़ धूप में लेकर गिर पड़े, तो इस दशा में वह स्वयं तो चोट खायगा ही, पर उस पदार्थ को भी नष्ट भ्रष्ट कर देगा।

अर्थात् कोई मनुष्य यदि अपनी स्वतंत्र रचना में किसी विशेष प्रकार की त्रुटि रहने देता है, या भारी-भारी अशुद्धियाँ करता है, तो इससे वह अधिकतर अपनी ही हानि करता है––अपने ही ग्रन्थ को अनुपादेय बनाता है, और अपनी ही अनभिज्ञता प्रकट करता है।

परन्तु यही बात यदि किसी प्राचीन ग्रन्थ की टीका या अनुवाद में की जावे तो अनुवादक या टीकाकार अपनी अज्ञता का प्रकाश करने के साथ-साथ ग्रन्थकर्त्ता के नाम को भी कलंक लगाता है; उसे ऐसी पब्लिक में जो उससे अच्छी तरह वाकिफ नहीं है, बदनाम करता है, और उस पर से सर्व-साधारण की श्रद्धा को कम करता है।

क्या ऐसी अवस्था में भी चुप ही रहना ठीक है?

मनागनभ्यावृत्या वा कामं क्षाम्यतु यः क्षमी।
क्रियासमभिहारेण विराध्यन्तं क्षमेत कः॥

जो क्षमाशील पुरुष है वह कई बार थोड़ा-थोड़ा अपराध करनेवाले को या एक बार बहुत सा अपराध करनेवाले को भले ही क्षमा कर दे, पर बार-बार और एक से एक बढ़कर अपराध करनेवाले आदमी को कोई कैसे क्षमा करे!

किसी पुस्तक की दस बीस साधारण अशुद्धियाँ क्षन्तव्य हो सकती हैं, पर जो पुस्तक सब प्रकार के दोषों से "सर्वांग-भूषित" हो, और "सर्वसाधारण की बुद्धि में कविवर का आशय प्रकट हो जाय" इस निमित्त सर्वसाधारण के उपयोगार्थ बनी हो, उसके गुण-दोष सर्वसाधारण पर अवश्य प्रकट होने चाहिए।

'सतसई' की वह टीका जिस पर हम इस समय कुछ लिखना चाहते हैं, खेद है कि इसी प्रकार की है। उसमें दोहों के अर्थों का अनर्थ और भावों का अभाव है। यद्यपि टीकाकार महाशय अलंकारों का नाम नकल करते गये हैं, जिससे यह तो पता चल जाता है कि यहाँ अमुक अलंकार था, पर उन्हें इस प्रकार तोड़ा मोड़ा गया है कि उनकी सूरत नहीं पहचानी जाती। कौन किससे कह रहा है, अथवा किसका वर्णन है, इस अत्यन्त आवश्यक बात को जिसे सब प्राचीन टीकाकारों ने लिखा है, और जिसके निर्देश की 'सतसई' जैसे कोषात्मक काव्य की टीका में बड़ी जरूरत है, बिलकुल ही छोड़ दिया है। मूल पाठ को भी शुद्ध नहीं रहने दिया। उसे भी यत्र तत्र भ्रष्ट करके सन्निवेशित किया है। यह दशा दस पाँच जगह नहीं किन्तु प्रायः सब ग्रन्थ में समान रूप से वर्तमान है।

अच्छा, अब जरा सावधान होकर विद्यावारिधि जी (पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र) का "साहित्य-परिचय" सुन लीजिए। कहते हैं:––

"सतसई में साहित्य विषयक जो वर्णन आया है उसको संक्षेप से वर्णन करते हैं साहित्यदर्पण में वाक्यरसात्मक-काव्यम् और काव्यप्रकाश में तददोषै शब्दार्थौं सगुण-वनलंकृतिः पुनः क्वापीति' और रसरहस्य के कवि कहते हैं।

जगते अद्भुत मुखसदन, शब्दरु अर्थ कवित्त।

इसमें जगत् से अद्भुत सुख लोकोत्तर चमत्कार का ही नाम काव्य कथन हुआ है इत्यादि।"

जरा ठहरिए, इतनी जल्दी एक साँस पाठ कर जाने से सर्व साधारण न समझ सकेंगे। पहले बताइए श्रीमान् ने यह दो संस्कृत-वाक्य क्यों उद्धृत किये थे? इनसे क्या अपराध हुआ जो आपने इनकी बात तक न पूछी? सर्व-साधारण इसका कुछ अर्थ न समझे। कहीं यह बात प्रकट करने के लिए ही तो इन्हें तकलीफ नहीं दी गई कि जिससे सर्वसाधारण जान जायँ कि आपकी पहुँच साहित्यदर्पण और काव्यप्रकाश तक है। अस्तु, महाराज जी! 'वाक्य-रसात्मककाव्यम्' यह वाक्य कौन से साहित्यदर्पण में है? विश्वनाथवाले साहित्यदर्पण में तो 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" यह पाठ है। सम्भव है, आपके पुस्तक में वैसा ही पाठ रहा हो, तब "वाक्यरसात्मककाव्यम्" इस समस्त पद का अर्थ क्या होगा? और "तददोषै शब्दार्थौं सगुण वलंकृतिः पुनः क्वापीति॥ इसमें "तददोषै?' का सम्बन्ध किसके साथ है? तथा "सगुण वलंकृतिः क्या चीज है? कृपा करके बतलाइए तो, "जिस कविता में रस सुख लोकोत्तर चमत्कार है वही काव्य कहाता है" आपके इस लोकोत्तर वाक्य से जाना जाता है कि कविता और काव्य में कुछ भेद जरूर है, सो आप ही जानते होंगे। पाठकगण! 'साहित्यपरिचय' में आगे चलकर जो दोहे लिखे हैं, वे टीकाकार के अपने तो हैं नहीं, आपने यह भी नहीं लिखा कि वे कहाँ से लिये गये हैं। इसके अतिरिक्त जो कुछ है वह प्रायः साहित्यदर्पण के कुछ श्लोकों का अति दूषित अनुवाद है। कहीं-कहीं आपने अपनी ओर से भी कुछ-कुछ बढ़ाया है, 'साहित्य-दर्पण' का नाम लेने की आपने जरूरत नहीं समझी। ऐसी दशा में यह अच्छा ही हुआ। नाम ले देने से साहित्य-दर्पण की कौन इज्जत बढ़ जाती। उसे और लज्जित ही होना पड़ता। 'वाक्य रसात्मक काव्य' की दुर्दशा पर ही उसे अफसोस है कि ऐसी दशा में उसे क्यों बदनाम किया गया। अस्तु, रसों का कुछ हाल लिखकर आप फर्माते हैं—

"इसके आगे काव्य की ध्वनि व्यंजना लक्षण (?) का विस्तार होता है परन्तु हम सतसई मात्र का विषय संक्षेप से दिखाते हैं" (सा० प० पृ० २४) फिर इससे आगे चल कर ३०वें पृष्ठ पर लिखते हैं—"इसके आगे ध्वनि अर्थ लक्ष्य व्यंजना आदि के अनेक विषय चलते हैं परन्तु यहाँ अब प्रयोजनीय अलंकार विषय कहते हैं।"

चलते होंगे, आपके राम को इससे क्या प्रयोजन! उधर न देखिए अँगूर खट्टे हैं। आप सतसई मात्र का विषय संक्षेप से दिखाइए। आपने तो ध्वनि आदि का नाम लेकर उनकी याद भी व्यर्थ दिलाई। अब जब कि आप जिक्र छेड़ ही बैठे तो बात पर बात याद आ गई, क्यों महाराज! 'सतसई मात्र में' ध्वनिव्यंजना या लक्षणा का पता नहीं। अर्थात् अभिधा, लक्षणा, व्यंजना, ये शब्द की तीनों शक्तियाँ और वाच्य, लक्ष्य, तथा व्यंग्य ये तीन प्रकार के अर्थ सतसई में नहीं हैं! इसीलिए आपने अपने 'साहित्यपरिचय' में (जो 'सतसई मात्र का' विषय समझाने के लिए लिखा गया है) इनको स्थान नहीं दिया! फिर उसमें और है क्या? ब्रजभाषा के जाननेवाले बड़े-बड़े विद्वान् तो कहते हैं कि 'सतसई' अत्युत्कृष्ट काव्य है, और काव्य के दो ही उत्तम भेद हैं जैसा कि साहित्यदर्पणकार लिखते हैं "काव्यं ध्वनिर्गुणीभूतव्यंग्यं चेति द्विधा मतम्।" आप 'ध्वनि' आदि को 'सतसई मात्र' का विषय ही नहीं बतलाते, इससे उनकी काव्यता भी गई! आपने अपनी इस प्रतिज्ञा को टीका में खूब निबाहा है। चाहिए भी ऐसा ही, आदमी जो बात कहे उसे सांगोपांग पूरी उतार दे। टीका पढ़ने से यह प्रतीत होता है कि सतसई में ध्वनि आदि कुछ नहीं। इस दशा में यदि कोई आपसे कुछ कहने लगे तो आप कह सकते हैं कि "भाई तुम पहले मेरी टीका आद्योपान्त पढ़ जावो। उसमें यदि कहीं भी ध्वनि आदि का गन्ध तुम्हें मिल जाय तब मुझसे कहना। सतसई को मैं जैसा समझता हूँ वैसा ही उसका टीका किया है, लोगों की राय का मैं जिम्मेदार नहीं, वह उसे कैसा ही समझा करें।" ठीक है, बस हम भी चुप हैं।

अच्छा, अब 'साहित्य-परिचय' सुनिए। २६ पृष्ठ पर नायिकाओं का भेद बतलाते हुए विद्यावारिधि जी आज्ञा करते हैं:—"और अधीरा कठोर बचन कहती है यह सबमें लगा लेना।" बहुत अच्छा, जो आज्ञा, सब में लगा लेंगे, अर्थात् धीरा कठोर वचन कहती है, अधीरा कठोर

वचन कहती है, धीराधीरा कठोर वचन कहती है। कहाँ तक गिनावें, नायिका मात्र कठोर वचन कहती है, कठोर-वादिता उनका स्वाभाविक गुण है, वह उनसे किसी प्रकार किसी अवस्था में दूर नहीं हो सकता। क्यों महाराज ! इसी प्रकार लगा लें न ?

"प्रगल्भा यदि धीरा होती है तो क्रोध छिपाकर बहुत आदर दिखाती है" आपके इस वाक्य में वह लगा लें ? तब तो यों कहना होगा :—यदि प्रगल्भा धीरा होती है तो क्रोध छिपा कर बहुत आदर दिखाती है। कठोर वचन कहती है !" पर यदि कोई इसका अर्थ पूछने लगे तो क्या कहा जाय ? कठोर वचन कह कर आदर कैसे दिखाया जाता है ? खैर, कुछ चिन्ता नहीं, कह देंगे कि विद्यावारिधि जी की ऐसी ही आज्ञा है—

"अविद्यावारिधीयन्तु भवति यथान्यासमेवास्तु ।"

स्वाधीनभर्तृका का विलक्षण लक्षण सुनिए—"जो अपने स्वामी के सदा प्रेम में आधीन रहै यह स्वाधीन भर्तृका," (सा० प० २७)

यह लक्षण किस साहित्य में लिखा है ? जरा इस शब्द की व्युत्पत्ति पर तो ध्यान दीजिए। विश्वनाथ जी से तो पूछिए वह क्या कहते हैं :—

"कान्तो रतिगुणाकृष्टो न जहाति यदन्तिकम् ।
विचित्रविभ्रमासक्ता सा स्यात्स्वाधीनभर्तृका ॥"

अर्थात् रतिगुणाकृष्ट कान्त जिसके पास से न टले वह स्वाधीनभर्तृका। आपकी बोली में "जिस के प्रेम के आधीन सदा स्वामी रहे, वह। (स्वाधीनो भर्त्ता यस्याः सा, 'नद्युतश्चेति कप्) ॥ प्रोषितभर्तृका का लक्षण भी सुनने लायक है। "जिसका पति कार्यवश परदेश गया हो **उसकी** कामार्त्त स्त्री प्रोषितभर्तृका कहाती है।" **उसकी** किसकी ? जिस (पुरुष), का पति कार्यवश परदेश गया हो—(वह स्वयं घर पर ही मौजूद हो !) उस पुरुष की स्त्री प्रोषित-भर्तृका अथवा जिस (स्त्री) का पति परदेश गया हो, उस (स्त्री) की (वह स्वयं नहीं किन्तु उसकी स्त्री !!) कामार्त्त स्त्री प्रोषितभर्तृका कहाती है। तीसरी तरह 'उसकी' की खपत हो नहीं सकती।

विद्यावारिधिजी ! यह आप किस लोक की रीति का वर्णन कर रहे हैं ? इस लोक में तो पति का पति या स्त्री की स्त्री होते नहीं !!!

पाठकवृन्द ! "जिसका पति कार्यवश परदेश गया हो वह कामार्त्त स्त्री प्रोषितभर्तृका कहाती है।"

इस सीधी सी बात को अपनी अपूर्व शब्द-स्थापना द्वारा विद्यावारिधिजी ने कैसा जटिल बना दिया ! आपको आशा है कि यह विहारी के काव्य का ठीक अर्थ करेंगे !

अच्छा, अब भाव आदि का भी कुछ-कुछ भाव विद्यावारिधिजी से सुन लीजिए।

"भाव—निर्विकारात्मक चित्त में पहला विकार (विभाव ?) भ्रूनेत्रादि के विकार से सम्भोग की इच्छा प्रकट करनी थोड़ा संलक्ष्य विकार हाव है। खेलादि के अत्यन्त प्रगट विकार का नाम हेला है।"

वाचक महोदय ! इन लक्षणों का भाव आप समझे ? विकार और भ्रूनेत्र के बीचों बीच ब्रैकिट के अन्दर जो यह 'विभाव' देव विराजमान हैं, यह बेचारे किसके मह-मान हैं ? और यह "खेलादि का अत्यन्त प्रगट विकार" क्या बला है ? साहित्यदर्पण में तो "हेलात्यन्तसमालक्ष्य विकारः स्यात् स एव च ॥ अर्थात् जिसमें विकार के चिह्न अतिस्पष्ट प्रतीत होने लगें, ऐसा भाव ही हेला कहलाता है। इसमें खेलकूद का नाम भी नहीं। लीला का लक्षण सुनिए :—"अंगवेश अलंकार धारण पूर्वक प्रीतियुक्त प्रेम भरे वचन कह कर प्रिय की अनुकृति का नाम लीला है।" क्या बात हुई ? "अंगवेश अलंकार धारण पूर्वक' इसका क्या अर्थ हुआ ? अंगधारणपूर्वक, वेश धारण-पूर्वक इत्यादि, यही अर्थ होगा न ? पर 'वेश-धारण अलंकारधारण का तो कुछ अर्थ हो भी जायगा, इस 'अंग-धारण' का क्या होगा ? और 'प्रीतियुक्त प्रेम भरे वचन कहकर' यहाँ प्रीति और प्रेम में क्या भेद है ? पाठक ! यह अपूर्व लीलामयी व्याख्या साहित्यदर्पण के जिस श्लोक की है, वह यह है—

"अंगैर्वेशैरलंकारैः प्रेमभिर्वचनैरपि ।
प्रीतिप्रयोजितैर्लीलां प्रियस्यानुकृतिं विदुः ॥

अब विलास की बारी आई :—

"इष्ट के देखने से यान, स्थान, आसनादि तथा मुख-नेत्रादि की विशेष विचित्रता का नाम विलास है। कैसा

अच्छा लक्षण है? इष्ट, यान, आसन, स्थान, इन पदों का अर्थ लिखने की आपने जरूरत नहीं समझी। इष्ट वस्तु अनेक प्रकार की होती है, यथा, धन, विद्या, स्त्री, पुत्र, आदि। इसी प्रकार **यान** भी, व्योमयान, धूमयान आदि भेद से अनेक प्रकार का होता है। **स्थान** के भी कई अर्थ हैं, यथा, कण्ठताल्वादि, गृह आदि। रहा **आसन** सो वह कुशासन, ऊर्णासन, पीठासन, तथा वीरासन, उष्ट्रासन, और सिंहासन आदि अनेक भेदों में विभक्त है। साहित्य-दर्पण के जिस श्लोक का यह सरस अनुवाद विद्यावारिधि-जी ने किया है, वह इस प्रकार है :—

यानस्थानासनादीनां मुखनेत्रादिकर्मणाम्।
विशेषस्तु विलासः स्यादिष्टसन्दर्शनादिना॥

अर्थात् प्रिय के देखने आदि से, चलने, खड़े होने, और बैठने में, तथा मुखनेत्रादि की क्रिया में कुछ विशेषता—तबदीली आ जानी, इसका नाम विलास है।

मोट्टायित का लक्षण सुनिए :—

"प्रीतम की कथा आदि में भाव रखकर कान आदि खुजाते जाने का नाम मोट्टायित है"

अर्थात् विद्यावारिधिजी के मत से इस भाव (मोट्-टायित) में 'कान आदि का खुजाते जाना' लाजमी शर्त है, प्रधान लक्षण है। परन्तु सतसई के २५१ दोहे की चोटी पर विद्यावारिधिजी ने स्वयं "मोट्टायित हाव वर्णन" लिखा है, उसमें इस 'कान खुजाते जाना' का पता नहीं, देखिए :—

"सकुचि सरकि पिय निकटत, मुलकि कछुक तन तोरि
कर आंचर की ओट कर जमुहानी मुख मोरि॥"

इसके अतिरिक्त शिवराम त्रिपाठी कृत 'रस-रत्न-हार' में मोट्टायित के उदाहरण में यह श्लोक दिया है :—

चित्रवर्तिन्यपि नृपे तत्वावेशे न चेतसि।
व्रीडार्धवलितं चक्रे मुखेन्दुमवशैव सा॥

इसमें भी 'कान आदि खुजाते जाना' नहीं आया। विश्वनाथ ने भी "कर्णकण्डूयनादिकम्" लिखा है, अर्थात् कान खुजाना आदि।

'कुट्टमित' का सिर किस प्रकार कूटा गया है, सो देखिए :—

"प्रीतम के केश, स्तन, अधरादि के स्पर्श करने से जो सम्भ्रम से हाथ पैर का विधूनन है, उसको कुट्टमित कहते हैं।"

'प्रीतम के केशस्तन........' यह आप क्या कह गये? खूब, "पुंस्वेव योषिद्भ्रमः।' आपकी पद-विन्यास-चातुरी की बलिहारी।

"शिरःकरविधूननम्" 'सिर और हाथ का हिलाना' की जगह आप लिखते हैं "हाथ पैर का विधूनन" 'शिरः' का अर्थ आपने 'पैर' कर दिया। और विधूनन को ज्यों का त्यों ही रहने दिया। परन्तु यह न सोचा कि हाथ पैर हिलाना, हिन्दी में, उद्योग करने को कहते हैं, और केवल हाथ हिलाना या सिर हिलाना, अनिच्छाद्योतक क्रिया है। अच्छा आगे सुनिए :—

"मुग्धा कन्या केवल देखती है, बहुत पूछने से कुछ कहती है।"

केवल देखती है? और कुछ नहीं करती? सुनती भी नहीं? और कान भी नहीं खुजाती क्या? यह 'मुग्धा' को आपने कन्या का विशेषण ही माना है, तब तो श्रीमान् के मत में प्रौढ़ा कन्या भी होती होगी? इसलिए तो कन्या के साथ 'मुग्धा' विशेषण लगाने की जरूरत हुई। पर साहित्यदर्पण की १५४ कारिका की उत्थानिका में "अथ मुग्धाकन्ययोरनुरागेङ्गितानि" यह है, जिससे स्पष्ट प्रतीत होता है 'मुग्धा' और 'कन्या' भिन्न हैं।' क्योंकि मुग्धात्व नवोढ़ा में भी होता है, सिर्फ कन्या में ही नहीं।

दूती का लक्षण सुनिए :—

.....भक्तिमान् (?) तत्वज्ञाता (?) स्मृतिवान् (?) मधुरभाषी (?).....दूती होनी चाहिए॥ सो तो ठीक है पर स्त्रीलिंग दूती शब्द के विशेषणात्मक ये शब्द भी इस प्रकार होने चाहिए—भक्तिमती, तत्वज्ञा, या 'तत्वज्ञात्री' स्मृतिमती, मधुरभाषिणी इत्यादि। आगे जैसी आपकी आज्ञा।

अच्छा, अब सिर्फ विदग्धा (?) अनुप्रास और वृत्त्यनुप्रास का लक्षण और सुन लीजिए।

"जहाँ बहुत से वर्ण एक बार फिर आवें वह विदग्धा अनुप्रास है।" "अनेक व्यंजन का एकधा स्वरूप से वा वारंवार अनेक प्रकार क्रम से एक व्यंजन का बार बार समभाव से जो वर्त्तना है उसको वृत्त्यनुप्रास कहते हैं"।

जरूर कहते होंगे, पर आपकी स्पेशल ट्रेन की धड़-धड़ाहट में कुछ समझ नहीं पड़ता कि आप क्या कह रहे हैं॥

यद्यपि विद्यावारिधिजी ने प्रायः प्रति दोहा की टीका में कुछ न कुछ कारस्तानी दिखाई है, तथापि प्रबन्ध बढ़

जाने के भय से हम कुछ ही दोहों की टीका लिखेंगे। हम अपने इस लेख में सतसई का मूल पाठ वही रक्खेंगे जो विद्यावारिधिजी ने अपनी टीका में रक्खा है। विद्यावारिधिजी ने मूल पाठ पर भी खूब हाथ साफ किये हैं, जहाँ तहाँ उसके सौष्ठव का मूलोच्छेद कर डाला है। अब जरा टीका सुनिए :—

"मोर मुकुट की चंद्रिका(?) यों राजत नँदनंद।
मनु शशि शेखर को(?) अकस, किय शेखर शतचंद ॥३॥"

"मोरपंख के मुकुट धारण किये उस मोर पंख की चन्द्राकार रेखा से 'नंद सुवन' इस प्रकार शोभायमान होते हैं मानो (शशि शेखर) शिवजी के 'मन'(?) की अकस 'वैमनस्यता'(?) विचारकर कृष्ण ने अपने शिर पर सौ चन्द्रमा धारण किये हैं, इत्यादि। (पृ० ३)

'नँदनंद' का अर्थ आपने 'नंद सुवन' किया है, इससे तो 'नँदनंद' ही बहुत सुगम है। यदि 'नंद को ढोटा' लिख देते तो आपकी व्रजभाषाप्रवीणता और भी प्रकट हो जाती। 'सुवन' शब्द पुत्र के अर्थ में आजकल की हिन्दी में नहीं आता, ब्रजभाषा में भी यह शब्द प्रायः पद्य में ही आता है। इसी का नाम "मघवा मूल विडौजा टीका"!

मूल में उत्प्रेक्षाव्यञ्जक 'मनु' शब्द आता है, उसे आपने दो जगह घसीटा है। एक जगह उसका अर्थ 'शिवजी का मन' कर डाला है, जो एकदम व्यर्थ है। 'शिवजी के मन की वैमनस्यता'(?)* विचारने की क्या आवश्यकता थी? यदि उसे 'वैमनस्यता' कह सकें तो वह मुद्दत पहले कार्य में परिणत हो चुकी थी, जब कि उन्होंने काम को भस्म कर दिया था; 'वैमनस्यता' मन में थोड़े ही छिपी रह गई थी, और फिर शिव जी तो योगिराज थे, वह किसी से मन में 'वैमनस्यता' क्यों रखते? आपने 'मन' 'विचार का' मूल के किन शब्दों का अर्थ किया है? 'मनु जनु' 'मनो' 'मानो' ये तो उत्प्रेक्षाव्यञ्जक शब्द हैं! यदि 'मनु' पद 'शशि-शेखर को' के आगे धरा होता तब भी आपकी कल्पना या भ्रान्ति के लिए कुछ अवलम्ब हो सकता। मूल पाठ में भी आपने दो जगह कतर-ब्योंत की है। 'ससिसेखर की अकस' के स्थान में '....को अकस' बना डाला। 'अकस' को यदि आप पुँल्लिग ही मानें तो भी '....के अकस' ऐसा होना चाहिए था। '...को अकस' तो नितान्त अशुद्ध है। 'चन्द्रिकन' की जगह 'चन्द्रिका' कर दिया, दोनों में जो भेद है, उसे सहृदय काव्य-रसज्ञ आसानी से समझ सकते हैं। आप के ये पाठान्तर सब प्राचीन टीकाओं के विरुद्ध हैं। आप टीका करने बैठे हैं या मूल को भी बिगाड़ने? बाज आये ऐसी टीका से!!

मकराकृत गोपाल के, कुंडल सोहत कान।
धस्यो मनो हिय घर समर, डयोढी लसत निशान ॥४॥

"मकर के आकार के कुंडल श्रीकृष्ण के कान में इस प्रकार शोभित होते हैं मानो इनके हृदयरूपी भवन में काम (स्मर) प्रवेश कर गया है। "निशानरूपी द्वारपाल बाहर डयोढी पर शोभा देते हैं"। इत्यादि (पृ० ३)

देखा आपने! कैसा 'निशानरूपी द्वारपाल' डयोढ़ी पर बिठलाया है? धन्य महात्मन्! इस अपूर्व अर्थ को सुनकर विहारीलाल की आत्मा भी स्वर्ग में फड़क उठी होगी! जो खास बात इस दोहे में थी उसी को आपने धूल में मिला दिया!

मकर की आकृतिवाले कुंडलों पर उत्प्रेक्षा है कि मानो स्मरदेव हृदयरूप अपने मन्दिर में प्रविष्ट हो गये हैं और अपनी ध्वजा 'निशान' बाहर=हृदयमन्दिर की डयोढ़ी पर छोड़ गये हैं। काम का नाम 'मनसिज' और 'मकर-ध्वज' भी है। काम के ये नाम, और कुण्डलों की 'मकरा-कृति' यही इस अपूर्व उत्प्रेक्षा की जड़ है।

कहा लड़ैते दृग करै(?) परे लाल बेहाल।
कहुँ मुरली कहुँ पीत पट कहूँ मुकुट वनमाल ॥२२७॥

"हे लाड़ले! ऐसे क्या तुमने अपने नेत्र किये हैं जो तुम बेहाल पड़े हो कहीं मुरली, कहीं पीला वस्त्र, कहीं मुकुट, कहीं वनमाला पड़ी है। चलकर तो देख। व्याज-स्तुति।" (पृ० ७९)

व्याजस्तुति काहे को इसे तो "व्याज छुरी" कहना

विद्यावारिधिजी के पाठ में चिन्तनीय पदों पर " " (?) इत्यादि चिह्न सर्वत्र समालोचक की ओर से समझे जायँ।

*यहाँ भाववाचक एक प्रत्यय की कसर रह गई, 'त्व' और जोड़कर "वैमनस्यतात्व" रखते तो और अधिक सुन्दर हो जाता।

चाहिए! अर्थ के बहाने कविता के कमनीय गले पर यह कुन्द छुरी फेरी जा रही है, जिसके तले बेचारी पड़ी हुई छटपटा रही है! अर्थ, भाव, अलंकार, ये सब एक एक करके इस कठिन अवस्था में इसका साथ छोड़ गये हैं, निःसहायावस्था में पड़ी पैर पीट रही है, दम तोड़ रही है!!

सच कहा है किसी ने :—

"कौन होता है बुरे वक्त की हालत का शरीक,
मरते दम आँख को देखा है कि फिर जाती है।।"

विहारी की कविता के रसिक-प्रेमियो! देखते हो, तुम्हारी प्यारी कविता का क़तलेआम किस तरह खुले मैदान हो रहा है! विहारी की पीयूषरसवर्षिणी कविता-मेघमाला को ये आँधी के प्रचण्ड झोंके किस प्रकार छिन्न-भिन्न कर रहे हैं!! इस लतिका को अनर्थ की प्रचण्ड ज्वाला किस तरह जला रही है!!! हो सके तो इसके प्राण बचा लो; यह चली!

कितना सरल और सीधा दोहा है! "जो इतने पर भी न समझे तो उस बुत से खुदा समझे।"

सखी, नायिका से, नयनों की चोट खाये हुए कृष्ण की दयनीय दशा सुनाकर लड़ैते नेत्रों की शिकायत करती हुई खबर लेने की प्रार्थना कर रही है कि तैंने अपने नेत्र कैसे लड़ैते––लड़नेवाले किये हैं, जिनकी चोट खाकर लाल (कृष्ण) बेहाल पड़े हैं, कहीं मुरली पड़ी है, कहीं पीताम्बर, कहीं मुकुट और कहीं वनमाला पड़ी है, उन्हें कुछ सुध नहीं।

लड़ैते शब्द का अर्थ नेत्रों ही का विशेषण मानकर हरिप्रसाद और लल्लूलालजी ने 'लाड़ले' किया है, परन्तु यहाँ लड़ैते का अर्थ यदि लड़नेवाले किया जाय तो बहुत ठीक हो, 'लठैत'––'डकैत' की तरह हिन्दी में "लड़ैत" आता भी है, जैसे कहा जाता है कि अमुक आदमी बड़ा 'लड़ैत' है। 'आँखें लड़ाना' हिन्दी और उर्दू में महावरा है। उर्दू के प्रसिद्ध कवि 'मोमिन' का शेर है :—

"दिल गया दम पर बनी, आँखें लड़ीं कहती है हाल,
बेक़रारी आहोजारी अश्कबारी आपकी।"

विद्यावारिधिजी ने 'लड़ैते' को सम्बोधन समझकर 'हे लाड़ले!' बना दिया, और तो मजा देखिए, कहते हैं:––. "ऐसे क्या तुमने अपने नेत्र किये हैं जो तुम बेहाल पड़े हो" यह तो आप कहीं लिखते ही नहीं कि 'किसका वचन किससे' तथापि 'हे लाड़ले' और 'पड़े हो' इन पदों से पता चलता है कि सखी श्रीकृष्ण से कह रही है। ऐसा मालूम होता है कि श्रीकृष्ण की आँखें बड़े जोर से दुखने आ गई हैं, उनकी प्रबल पीड़ा से वह व्याकुल हैं, उन्हें अपने मुरली, मुकुट और कपड़े-लत्ते की कुछ सुध नहीं, अचेत पड़े हैं। आँखों की तीव्र पीड़ा ऐसी ही होती है। उसमें कुछ होश नहीं रहता। शायद श्रीकृष्ण ने कुछ कुपथ्य भी कर लिया है, इससे पीड़ा और बढ़ गई है, तभी तो सखी उन्हें समझा रही है और धमका रही है, कि "तुमने अपने नेत्रों की यह क्या दशा कर ली! जिससे इस तरह बेहाल पड़े हो, सिर पैर की कुछ खबर नहीं! लाड़ में आकर (हे लाड़ले! इसे हेतुगर्भ विशेषण का अर्थ?) तुम दिन दिन बिगड़ते जाते हो! "चलकर तो देख" अब तो सखी क्रोध से पागल हो गई जान पड़ती है, 'तुम' से 'तू तड़ांग' पर उतर आई! 'चलकर तो देख' न जाने कहाँ लिये जाती है और क्या दिखाना चाहती है! कदाचित् 'वनमाला' और 'पीताम्बर' दिखाना चाहती हो, परन्तु नेत्ररोग में तो ऐसी चीजों से बचना चाहिए।

और फिर वह बेचारे तो स्वयं बेहाल पड़े हैं, उनमें चलकर देखने की हालियत कहाँ? देखा! कैसी गुस्ताख (सखी) है! कोई पागल हुई है! हट परे दूर हो, आई कहाँ से, इलाज मालजा गया, दम दिलासा गई बेहाली में उन्हें पड़ा भी नहीं रहने देती, जब होश होगा आप जाकर देख लेंगे!!

चलत घरै (?) घर घर तऊ, घरी न घर ठहराति।
समुझि उही घर को चलै, भूलि उही घर जाति ॥ २४६॥

"अपने घर की कोठरी कोठरी में घूमती है, तौ भी घर में घड़ी भर नहीं ठहरती जानकर भी उसी घर को जाती है। भूलकर भी उसी घर को जाती है"इत्यादि। (पृ० ८५)

यदि **कोठरियों** की संख्या और उनकी लंबाई-चौड़ाई भी लिख देते तो और अच्छा होता! और यह भी लिखने से रह गया कि कोठरी कोठरी में वह क्या ढूंढ़ने के लिए घूमती है, और जल्दी जल्दी घूमती है या आहिस्ता आहिस्ता? क्या उसके घर में कोई बड़ा बरांडा, दालान या कमरा घूमने के लिए नहीं था? और यह और भी विचित्र बात है कि अपने ही घर की कोठरी कोठरी में घूमती है,

तौ भी घर में घड़ी भर नहीं ठहरती? जब कि वह घर में घड़ी भर भी नहीं ठहरती तो "कोठरी कोठरी में किस वक्त घूमती है?" आखिर को घूमने में कुछ देर तो लगती ही होगी? मालूम होता है, घर में दो एक छोटी-छोटी कोठरियाँ होंगी। उनकी परिक्रमा जल्द जल्द दो-चार मिनट में करके वह चल देती है! क्यों महाराज! यही बात है या कुछ और? पाठकगण! इन तिलस्मी 'कोठरियों' का दोहे में कहीं पता भी नहीं। न मालूम विद्यावारिधिजी ने यह बेबुनियाद इमारत कहाँ से खड़ी कर दी? तभी तो वह ठहर न सकी, धम से नीचे गिर गई! "घैर" इस निन्दात्मक शब्द का "घरै" बना दिया! कुछ तो चाहिए था!

दोहे का अर्थ है कि—नायिका यह जानकर भी कि घर-घर में इसकी चर्चा और निन्दा होती है उसी के (नायक के) घर को जाती है, और जब प्रेमोन्माद में लोक-चर्चा और निन्दा को भूल जाती है, तब भी उसी के घर जाती है; सब कुछ भूलकर भी उसका घर नहीं भूलती! दीवाना बकारख्वेश हुशियार"

मानहु विधि तनु अच्छ छबि, स्वच्छ राखिवे काज।
दृगपग पोंछन को किये, भूषन पायनदाज ॥५१५॥

मानों शरीर की अच्छी छवि स्वच्छ रखने के निमित्त विधाता ने **दृग** और **पग** के पोंछने को भूषणों को पायनदाज किया है जो फरश के आगे देहली में पगपोंछन होता है उसे पायनदाज कहते हैं। उत्प्रेक्षालंकार।" (पृ० १६९)

अफसोस! न हुए इस समय बिहारीलाल, अधिक नहीं तो उन ७०० (सात सौ) में से आधी मोहरें (अशरफियाँ) तो हम आपको (विद्यावारिधिजी को) दिलवा ही देते, जो उन्हें जयपुर दरबार से, (प्रति दोहा १ मोहर के हिसाब से) पुरस्कार में मिली थीं। उर्दू और फारसी के महाकवि गालिब का कथन है कि "सखुनसन्ज (कवि) से सखुनफहम (कविता का मर्म समझनेवाला) आदमी किसी प्रकार भी योग्यता और प्रतिष्ठा में कम नहीं है।

इसी तरह यदि श्रीमान् 'विद्वद्वृन्दशिरोमणि' 'विद्यावारिधि' महाराज "सर्व साधारण की बुद्धि में कविवर का आशय प्रगट कराने की" इच्छा से प्रवृत्त होकर अपना यह अमूल्य "अति ललित मधुर मुग्ध" टीका न बनाते तो भला बिहारी के काव्य के ऐसे ऐसे रहस्यपूर्ण भाव और निराले अर्थ संसार को कैसे मालूम होते!

विद्यावारिधिजी अपनी महिमा का वर्णन सुनकर प्रसन्न हो रहे होंगे परन्तु शोक है कि हम उन्हें ज्यादह देर तक खुश नहीं रख सकते। हमने तो अपनी तरफ से बहुत जोर लगाया कि किसी तरह विद्यावारिधिजी को पुरस्कार की मोहरों में से हिस्सा मिल जाय, परन्तु कविताक्रन्दन ने मामला बिचाल दिया, इनाम का नाम सुनते ही बड़े दर्दनाक लहजे (कारुणिक स्वर) में कविता चीख उठी कि हाय यह क्या गजब करते हो! मेरे कातिल को यह उलटा इनाम कैसा देते हो! खूब रहा:—

"यह अजीब माजरा है, मुझे रोजेईदे—कुर्बां,
वही ज़िबह भी करे है, वही ले सवाब उलटा।"

देखते नहीं हो, इन्होंने किस तरह "दृग और पग के पोंछने को भूषणों का पायनदाज किया है"—मानो नायिका के शरीर को सड़क बनाकर उस पर अनर्थ का पत्थर फोड़ कोल्हू चलाया है!!! कविता की कोमल काया को दुर्भाव के 'दुर्मट' से इस बुरी तरह कुटवाया है कि उसने देखनेवालों को खून के आठ-आठ आँसू रुलवाया है!!

सोचने की बात है कि जब नायिका का शरीर "पगडंडी" (?) बन गया, लोग उसे पैरों से रौंदकर चलने लगे तो 'भूषणों का पायनदाज' क्या काम देगा? वह शरीर की अच्छी छवि को स्वच्छ कैसे रख सकेगा? 'भूषणों का पायनदाज' तो राहगीरों के पैरों से टूट टूटकर, नायिका के शरीर में घुस जायगा! उसे और क्षतविक्षत करके महाभयानक और बीभत्स बना देगा? शिव शिव! इस कारुणिक दृश्य से किस सचेता पुरुष का हृदय न पिघलेगा? कौन सहृदय न रो पड़ेगा?

"अपि ग्रावा रुद्यादपि च विदलेद्वज्रहृदयम्!!"

सहृदय पाठकगण! यह दोहा "सतसई" के चोटी के दोहों में से है। इसमें कवि ने अपनी नाजुकखयाली और कल्पनाशक्ति का कमाल दिखला दिया है। कवितासृष्टि में इस दोहे का और जवाब नहीं है! बस, कलम तोड़ दिया है!

"मानहु विधि तन अच्छ छबि, स्वच्छ राखिबे काज।
दृग पग पौंछन को किये, भूषन पायनदाज॥"

उर्दू कवि के "खयाली बोसों* से माशूक के गुलेरुखसार पर नीले दाग पड़ने" में भी वह लुत्फ नहीं जो इस दोहे के भाव में है!

शरीर की कोमलता और कान्ति की यह पराकाष्ठा है कि नजर के पड़ने से भी वह मैली हुई जाती है! इसी लिए मानो ब्रह्मा ने भूषणों का पायनदाज बना दिया कि दृष्टि अपने **पग** उससे पोंछ कर तन्वी के तन पर पड़े! शरीररूपी स्वच्छ चाँदनी को आँखों के मैले **पैर** खराब न कर दें, इसी लिए भूषणरूप पायनदाज बनाया गया है! (आँखों के पैर और उनसे शरीर की कान्ति का मैला होना! कितनी नजाकत, सफाई, और नाजुकखयाली है! कुछ ठिकाना है!!) अन्यथा 'दर्पण में मोरचे की तरह प्रतीत होनेवाले इन भूषणों की आवश्यकता क्या थी?

"पहिर न भूषण कनक के, कहि आवत इहिं हेत।
दर्पन के से मोरचा, देह दिखाई देत॥५२६॥

*"क्या नजाकत है कि आरिज उनके नीले पड़ गये।
हमने तो बोसा लिया था ख्वाब में तस्वीर का।"
आरिज=कपोल।

सखी नायका से कह रही है कि मैं जो तुझे सोने के पहनने का निषेध कर रही हूँ सो इसलिए कि वह तेरे शरीर में इस प्रकार दिखाई देते हैं जैसे दर्पण में मोरचा!

जिस शरीर की उज्ज्वलता को देखकर आँख उज्ज्वल होती है, वह यदि आँखों के पैरों से मैली हो जाय तो आश्चर्य ही क्या है? :—

"कहा कुसुम कह कौमुदी, कितिक आरसी जोति।
जाकी उजराई लखे, **आँख ऊजरी** होति॥५१९॥

फूल, चाँदनी, या आरसी (दर्पण) में भला वह आबताब और चमक दमक कहाँ है? उसके उजाले से तो स्वयं आँख उजाला पाती है!

सति प्रदीपे सत्यग्नौ सत्सु ताराखीन्दुषु।
विना मे मृगशावाक्ष्या तमोभूतमिदं जगत्॥"
(भर्तृहरिः)

विद्यावारिधिजी ने उक्त दोहे के सौन्दर्य को कितना बिगाड़ा है, कुछ ठिकाना है? कवि-कल्पनासमुद्भूत दृग के पगों को "दृग और पग के पोंछने को" कह कर सचमुच के पैर निकाल दिये! "दृगपग" इस समस्त (षष्ठी तत्पुरुष) पद में द्वन्द्व युद्ध (?) (दृग और पग?) करा कर **दृग** की टाँगें तोड़ डालीं! मानो सहृदयता की आँखें फोड़ डालीं!! जो निर्मल शरीर दृष्टि के पड़ने से भी मैला होता था, उसे "पगडंडी" बना दिया!!!

१९१०

❀ ❀ ❀

धन और उसका उपयोग

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन

विचार यह उठता है कि "धन है क्या वस्तु?" किसी साधारण मनुष्य से पूछिए तो वह यही उत्तर देगा कि "धन के अर्थ हैं रुपया, पैसा, मोहर, सोना, चाँदी, हीरा, मोती इत्यादि।" फिर उससे पूछा जाय कि क्यों जी! इन्हीं पदार्थों को धन क्यों कहते हैं? क्या तुम्हारे घर की और वस्तुएँ धन नहीं हैं? तो कदाचित वह यह कहेगा कि "हाँ! एक प्रकार से वे भी धन हैं परन्तु विशेष कर धन इन्हीं पदार्थों को कहते हैं। क्योंकि साधारण रीति से इनके ही द्वारा हम अन्य वस्तुओं को ले सकते हैं।" यद्यपि सम्पत्ति-शास्त्र के अनुसार युक्तिपूर्वक धन की परिभाषा वह मनुष्य न दे सके तथापि वह यह जानता है कि धन उसी को कहते हैं जिसको देकर उसके बदले कोई पदार्थ मिल सके। वास्तव में धन वा सम्पत्ति के अर्थ बहुत बड़े हैं और इन शब्दों से उन समग्र पदार्थों का बोध

होता है जिनसे मनुष्य की इच्छाओं का साधन होता है और जिनके बदले में मनुष्य अन्य पदार्थों को दूसरों से पा सकता है अर्थात् "धन" से उन सब पदार्थों का बोध होता है जिनके द्वारा मनुष्य औरों की शक्ति को वा उनकी शक्ति के फल को अपने काम में ला सके। परन्तु साधारण बोल चाल में "धन" और 'धन' की माप के पदार्थ व सिक्कों में भी अंतर नहीं किया जाता। मनुष्य धन की इच्छा केवल इस प्रयोजन से करता है कि वह ऐसा मंत्र है जिसको सिद्ध कर अपने पास रखने से मनुष्य औरों की शक्ति अपने इच्छा के अनुसार वश कर सकता है और जिस प्रकार मंत्र की सिद्धि यदि उससे काम न लिया जाय तो व्यर्थ है उसी प्रकार धन का उपार्जन करना व्यर्थ है यदि उसके द्वारा काम न लिया जाय। वास्तव में सोना या चाँदी में स्वयं मनुष्य की इच्छाओं के पूरा-करने की सामर्थ्य नहीं है; वे केवल अन्य पदार्थों के समान पाञ्चभौतिक पदार्थ हैं और उन पदार्थों में से भी उस श्रेणी के नहीं हैं जो मनुष्य के लिए सबसे अधिक आवश्यक और लाभदायक हैं। किन्तु जिस प्रकार से मेसमेरिजिम करने वाला (अर्थात् अपने चैतन्य से दूसरे के चैतन्य पर प्रभाव डालनेवाला) एक अज्ञान बालक में अपनी शक्ति के द्वारा वह शक्ति उत्पन्न कर देता है जो स्वयं उस मनुष्य में नहीं है और ऐसी अद्भुत बातें कहला देता है जो वह स्वयं नहीं कह सकता, इसी प्रकार बहुत काल से मनुष्य मात्र की एकत्रित शक्ति ने मिलकर इन धातुओं में वह शक्ति प्रदान कर दी है जो वास्तव में उन धातुओं में नहीं है और मनुष्य उनसे वह काम करा लेता है जो वह साधारण दशा में स्वयं नहीं कर सकता। जिस प्रकार से मेसमेरिज़्म के लिए कोई बालक वा पुरुष औरों की अपेक्षा विशेष उपयुक्त होते हैं उसी प्रकार सोना, चाँदी, हीरा, मोती इत्यादि पदार्थों में विशेष कारणों से मनुष्य ने यह शक्ति दे दी है कि वे जहाँ जाते हैं उन्हें सब कोई चाहता है और उनके बदले में सब प्रकार के पदार्थ मिल सकते हैं और व्यावहारिक काम हो सकते हैं अर्थात् उन धातुओं में कुछ गुण ऐसे हैं जिनके कारण मनुष्य को यह सुविधा पड़ती है कि उन्हें अपने व्यवहार का द्वार बना लें।

हमारी प्राचीन पुस्तकों से यह स्पष्ट है कि भारतवर्ष में प्राचीन काल में 'गोवंश' से वह काम लिया जाता था जो आज कल सोना और चाँदी कर रहे हैं अर्थात् मनुष्य के सम्पत्ति की माप 'गोवंश' के संकेत से की जाती थी। अब भी भारतवर्ष के उन कोनों और कन्दराओं में जहाँ उस सभ्यता का असर नहीं है जिसमें हम और आप रह रहे हैं और कुछ अंश तक हमारे सबही ग्रामों में मनुष्य के धन की गणना उसके 'ढोर' (गाय, भैंस इत्यादि) से की जाती है; और अन्य पदार्थों का मूल्य गाय और भैंस की तुलना से किया जाता है। योरप के देशों में भी उस समय के पश्चात् जब मनुष्य केवल आखेट से निर्वाह करता था, जब लोगों ने कृषि-कार्य सीखा तब वहाँ भी गाय, बैल, बकरी इत्यादि पशुगण ही "धन" समझे जाते थे। यूनानी कवि होमर के काव्य से स्पष्ट जान पड़ता है कि उनके समय में अन्य पदार्थों का मूल्य "गोवंश" की तुलना से किया जाता था जैसे वीरों के शस्त्रों के मूल्य ९ बैल २० बैल १०० बैल इस प्रकार से बतलाये गये हैं; एक दासी का मूल्य ४ बैल कहा गया है इत्यादि। पारसियों के पवित्र ग्रन्थ "जेन्द अवेस्त" से भी इसी परिपाटी का प्रमाण मिलता है।

कहीं-कहीं जहाँ दासों का व्यापार होता है और उनके साथ पशुओं का सा व्यवहार किया जाता है उनकी संख्या से अन्य पदार्थों के मूल्य की गणना की जाती है। इसी प्रकार वे पदार्थ भी जिन्हें मनुष्य ने शोभा की वस्तु समझा है सदा से धन का काम देते आये हैं। हमारे यहाँ 'कौड़ी' की गणना अब भी प्रचलित है। फीजी टापू के रहनेवालों में ह्वेल के दाँतों से यही काम लिया जाता था। तेल, तमाखू, नमक, अन्न और इसी प्रकार के बहुत से पदार्थों ने भिन्न-भिन्न देशों में और भिन्न-भिन्न समय में वही काम किया है जो आजकल हम चाँदी, सोने से ले रहे हैं। ऐसा भी सन्देह होता है कि कभी कहीं-कहीं लकड़ी के सिक्के चले हैं।

थोड़ा बहुत विचार प्रत्येक मनुष्यको इस बात का रहता है कि वह अपने धन से अधिक से अधिक लाभ किस प्रकार उठावे और जितना ही अधिक विचार इस विषय पर मनुष्य करता है उतना ही अधिक वह अपने धन से सुख उठाता है। तो विचार इस समय यही है कि मनुष्यमात्र किस प्रकार से अपने धन का उपयोग करे जिससे अधिक से अधिक सुख होने की संभावना हो। इस विचार में भी दो शाखायें उपस्थित होती हैं—एक तो प्रत्येक मनुष्य के लिए अपने अधिक से अधिक सुख की संभावना और दूसरे मनुष्य-जाति के अधिक से अधिक सुख की संभावना। दूसरा विचार बहुत सूक्ष्म

है। एक मनुष्य के कर्मों का असर दूसरे पर किस प्रकार से पड़ता है, एक मनुष्य के थोड़े सुख में दूसरे मनुष्यों का कितना असीम सुख नाश होता है। एक मनुष्य के थोड़े से सुख छोड़ने से संसार में उस थोड़े सुख की अपेक्षा कितना गुना सुख उत्पन्न होता है यह बहुत ही रोचक और विचार-योग्य विषय है परन्तु इतना सूक्ष्म है कि उसको यहाँ पर नहीं उठावेंगे। यहाँ केवल इस बात की ओर ध्यान आकर्षित किया चाहते हैं कि प्रत्येक मनुष्य को अपने ही अधिक से अधिक सुख के लिए वा उनके सुख के लिए जिनका सुख वह चाहता है किस प्रकार धन का उपयोग करना उचित है।

सबसे पहली आवश्यकता मनुष्य को भोजन की है। आदि-काल से लेकर आज तक सबसे पहला उद्योग मनुष्य को इसी के लिए करना पड़ता है। क्या उस काल में जब मनुष्य केवल आखेट के सहारे रहता था, क्या उस समय जब वह केवल खेती, फल और पशुओं के दूध के ऊपर निर्भर रहता था, क्या आजकल जब वह इन कामों के साथ ही सहस्रों प्रकार के काम करता है, सबसे पहला ध्यान उसका अपने शरीर के पालन की ओर रहता है? यह इच्छा छोटे बच्चे से बूढ़े तक में प्रकृति की ही प्रविष्ट की हुई है और सृष्टि की स्थिति इसी के ऊपर निर्भर है। इसी से सबसे पहला सुख जो मनुष्य मात्र अनुभव करता है इसी आवश्यकता के पूरी करने में होता है और इस कारण धन का पहला उपयोग प्रत्येक मनुष्य के लिए इसी कार्य के निमित्त उचित है। परन्तु यहाँ इतना स्मरण रखना चाहिए कि धन की उपयोगिता उसी भोजन के लिए व्यय होने में है जिससे शरीर का पालन और उसकी पुष्टि हो, क्योंकि शारीरिक सुख इसी में है कि शरीर हृष्ट, पुष्ट रहे। वह भोजन जो प्रायः केवल जिह्वा के स्वाद के लिए अथवा इन्द्रियों के प्रबल करने के लिए किया जाता है वास्तव में सुखदायी नहीं है; उसमें क्षण-मात्र का सुख हो परन्तु उससे यदि शरीर वा बुद्धि को हानि पहुँची तो प्रत्यक्ष है कि वह सुखदायी नहीं हो सकता। इससे भोजन के निमित्त धन की अधिक से अधिक उपयोगिता उसी में है जिससे शरीर का पालन हो, शारीरिक और मानसिक शक्ति बढ़े। इसमें सन्देह नहीं कि प्रत्येक का भोजन उसके कर्म के अनुसार भिन्न-भिन्न होता है। आध्यात्मिक शक्तियों को जगानेवाले योगियों का भोजन वही नहीं हो सकता जो अपने देश की रक्षा करने वाले और संग्राम में लड़नेवाले सिपाही का। परन्तु यह सिद्धान्त अवश्य प्रत्येक मनुष्य के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि उसके भोजन की अधिक से अधिक उपयोगिता उस प्रकार के खाद्य पदार्थों में है जो उसके उस कर्म में सहायक हों जो उसका उद्देश है।

दूसरी आवश्यकता मनुष्य को व्यवहार के अनुसार कपड़े पहनने की होती है। वस्त्र के सम्बन्ध में इस बात का कोई नियम नहीं बाँधा जा सकता कि किस मनुष्य को किस वस्त्र में धन लगाने से अधिक सुख मिलता है। प्रत्येक मनुष्य को अपनी दशा के अनुसार वस्त्र पहनने पड़ते हैं परन्तु धन अधिक से अधिक सुख लेने के लिए कहाँ तक वस्त्रों में लग सकता है इसकी सीमा अवश्य होती है, और सीमा मेरे विचार में यह है कि वस्त्रों से शरीर स्वस्थ रहे और उन्हें देखकर चित्त में प्रसन्नता हो, उनके कारण चित्त में कभी ग्लानि न उत्पन्न हो और उस मण्डली के लोग जिसमें वह मनुष्य रहता है पहिनने वाले के वस्त्र पर आक्षेप कर उसके चित्त को मलिन न करें। इसमें सन्देह नहीं कि इस सीमा के परे होकर भी मनुष्य धन के द्वारा सुख उठा सकता है। परन्तु वह धन का सबसे अच्छा उपयोग नहीं होगा क्योंकि वही धन उसी मनुष्य के और कामों में लगकर अधिक सुख उत्पन्न कर सकता है।

तीसरी आवश्यकता मनुष्य की यह है कि वह कोई ऐसी कारीगरी, हुनर अथवा व्यवसाय सीखे और करे जिससे भोजन और वस्त्र की आवश्यकतायें और वे अन्य स्वाभाविक इच्छायें, जिनका आगे वर्णन है, पूरी हो सकें अर्थात् जिसके द्वारा आवश्यकतानुसार धनोपार्जन हो। इसलिए यह प्रत्यक्ष है कि उस व्यवस्था के सीखने और और उसकी सामग्री इकट्ठा करने में धन का लगना बहुत ही उपयोगी और सुख का बढ़ाने वाला है।

पूर्वोक्त शारीरिक इच्छाओं में और इन इच्छाओं को पूरा करने के लिए धन पैदा करने के यत्न में धन लगाने के पीछे मानसिक इच्छाओं के पूरा करने की आवश्यकता पड़ती है। मनुष्य और पशु में यही समानता और अन्तर है कि कुछ दूर तक तो दोनों के कर्म एक ही है अर्थात् सबसे पहले दोनों की शारीरिक इच्छाओं के पूरा करने की आवश्यकता रहती है। इन इच्छाओं के पूरा करने में ही

पशुओं की तृप्ति और उनका सुख है, परन्तु मनुष्य की (अर्थात् साधारण मनुष्य की और उनकी नहीं जिनमें और पशुओं में केवल सूरत ही का भेद है) तृप्ति शारीरिक इच्छाओं को पूरा करके नहीं होती। मनुष्य प्रकृति की अद्भुत कारीगरी को देखता है और स्वभाव से उसके चित्त में प्रश्न उठते है "यह क्या है? यह किस प्रकार होता है?" ज्ञान की जिज्ञासा मनुष्य-मात्र का लक्षण है और इस जिज्ञासा के पूरी करने में जो आनन्द होता है वह शारीरिक सुख की अपेक्षा अधिक तीव्र और स्थायी होता है। इसलिए इस जिज्ञासा को पुस्तकों अथवा गुरु-शिक्षा अथवा अपनी विचार-शक्ति द्वारा पूरी करना मनुष्य का चौथा कर्म है। और उसमें धन लगाना धन की चौथी उपयोगिता है।

शरीर का अच्छा स्वास्थ्य रखने के लिए भोजन और कपड़े के अतिरिक्त उसके प्रत्येक अंगों को काम में लाने की व्यायाम की आवश्यकता पड़ती है और इस कारण से कि शरीर और मन का घनिष्ठ सम्बन्ध है और जब तक उसका शरीर के ऊपर भी अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता, ऐसे शारीरिक आमोद प्रमोद में धन लगाना पड़ता है जिनसे शरीर को लाभ हो और मन को भी प्रसन्नता हो। जिस प्रकार से केवल भोजन और कपड़े से शारीरिक आवश्यकता समाप्त नहीं होती वरंच और आनन्द देने वाले खेलों की खोज होती है, इसी प्रकार ज्ञान प्राप्त करने के अतिरिक्त भी मानसिक खेलों की आवश्यकता पड़ती है अर्थात् जिनमें कुछ बुद्धि का काम हो परन्तु बुद्धि को अधिक कष्ट करने की आवश्यकता न पड़े। कभी-कभी शारीरिक और मानसिक दोनों ही स्वास्थ्यों के लिए एक ही कर्म उपयोगी होता है। जैसे, पहाड़ पर अथवा नदी किनारे पर्यटन करना; इसमें शरीर को लाभ होता है परन्तु उसके साथ ही मन में भी अनेक कल्पनायें उठती हैं और उनमें मग्न होकर मन को आनन्द मिलता है और कठिन मानसिक परिश्रम से जो मानसिक थकावट होती है वह दूर होती है। परन्तु बहुत से ऐसे मानसिक आनन्द की वस्तुयें होती हैं जिनका विशेष सम्बन्ध मन और बुद्धि से है जैसे संगीत, कविता, चित्रकारी इत्यादि। इन मानसिक स्वास्थ्य के पदार्थों में जो सुख मिलता है वह शारीरिक स्वास्थ्य के द्वारा जो सुख मिलता है उससे कहीं अधिक बढ़कर और स्थायी होता है; उसी प्रकार जैसे मानसिक भोजन अर्थात् ज्ञान प्राप्त करने में (जिसको हमने चौथी आवश्यकता बतलाया है) जो आनन्द मिलता है वह उस आनन्द से बढ़कर और स्थायी होता है जो शरीर की रक्षा के निमित्त भोजन करने में होता है।

सारांश यह कि शारीरिक और मानसिक आनन्द-प्रमोद मनुष्य की पाँचवीं आवश्यकता है और इसमें धन लगाना उपयोगी है।

उपर्युक्त धन के उपयोगों में सब ऐसे है जिनमें धन नष्ट (बुरे अर्थ में नहीं किन्तु केवल काम में आकर न रह जाने के अर्थ में) होता है और जैसा हम ऊपर दिखा आये हैं धन इसी लिए है और उसका सुख इसी में है कि वह 'नष्ट' यानी खर्च या व्यय किया जाय परन्तु धन खर्च होने के लिए धन की स्थिति चाहिए—अर्थात् धन का उपार्जन चाहिए। इसी कारण धन के उपार्जन में धन लगाने को हमने धन का तीसरा उपयोग बतलाया है। यदि मनुष्य अपनी इच्छानुसार अपना स्वास्थ्य और अपनी स्थिति रख सकता तो पूर्वोक्त तीसरी उपयोगिता में एक बार धन लगाकर कदाचित यह निश्चित हो जाता और आवश्यकता के अनुसार धन पैदा कर अपने काम किया करता परन्तु वास्तव में मनुष्य के स्वास्थ्य अथवा उसकी आयु के सम्बन्ध में स्थिरता नहीं है। आज मनुष्य का स्वास्थ्य अच्छा है और वह शक्तिवान् है तो धन उपार्जन के लिए परिश्रम कर सकता है। कल रोगग्रस्त है, बुढ़ापा आ गया, कठिन परिश्रम की शक्ति नहीं रह गई, परन्तु आवश्यकतायें वैसी ही हैं। अपने लिए और कुटुम्ब के लिए धन अवश्य चाहिए। इस कारण जिस समय मनुष्य परिश्रम कर धनोपार्जन कर सकता है उसके धन का छठवाँ उपयोग धन का इकट्ठा करना है। ऊपर कहे हुए पाँचों उपयोगों का सम्बन्ध न केवल अपने डील से है वरन् उनसे भी है जिनके सुख से मनुष्य सुखी होता है और जिनका पालन वह अपना धर्म समझता है।

सारांश यह कि धन का ऐसा उपयोग कि जिसमें आवश्यकता पड़ने पर उसकी अनुपस्थिति से दु:ख न हो सुख का बढ़ाने वाला है और कुछ अंश तक आवश्यक है; परन्तु जिस प्रकार से अन्य आवश्यकताओं में धन की उपयोगिता की प्रत्येक पुरुष के लिए अवस्था-भेदानुसार सीमा

है उसी प्रकार धन इकट्ठा करने में अथवा इस नीयत से उसको कहीं लगाने में जिसमें आवश्यकता के समय वह मिल जाय धन की उपयोगिता की सीमा है।

तो अब देखना है कि इस सीमा तक धन इकट्ठा कर मनुष्य किस प्रकार से अपनी आवश्यकताओं से बचनेवाले धन को लगावे जिसमें उसको सबसे अधिक सुख हो, जब कोई मनुष्य धन इकट्ठा करने की इस अवस्था तक पहुँच जाता है तब प्रायः यह देखा जायगा कि वह आगे अपने पास बचनेवाले धन के कुछ अंश को उपर्युक्त आवश्यकताओं में से ऐसों में लगावेगा जो बिना हानिकारक हुए और सुख पहुँचाते हुए बढ़ाई जा सकती हैं, जैसे विद्या के उपार्जन में, परन्तु बचनेवाले धन का बहुत थोड़ा अंश प्रायः इस प्रकार लगा सकेगा। शेष की उपयोगिता इसी में होगी कि वह अन्य मनुष्य की आवश्यकताओं के पूरी करने में लगाया जाय। इस प्रकार धन लगाने में एक ऐसा अकथनीय आनन्द होता है जिसका स्वादु साधारण रीति से प्रायः सब ही मनुष्य जानते हैं किन्तु अच्छे प्रकार से सहृदय पुरुष ही उसका सुख उठा सकते हैं। वास्तव में मनुष्य की सातवीं आवश्यकता यह है कि वह अन्य लोगों के सुख के लिए यत्न करे और धन की भी बहुत बड़ी उपयोगिता प्रत्येक मनुष्य के लिए इसी में है कि वह एक सीमा के परे, दूसरों के लाभ और सुख के लिए अपना धन लगावे और इस प्रकार से स्वयं धन के द्वारा सुख प्राप्त करे।

यहाँ पर मैंने जो कुछ लिखा है वह केवल स्वार्थ अर्थात् अपने सुख के भाव से है—धर्म और पुण्य के विचार से उसका सम्बन्ध नहीं। और न महान् पुरुषों की शैली की मैंने व्याख्या की है क्योंकि ऐसे पुरुषों के हृदय में "अपने" सुख का हिसाब नहीं लगता। वहाँ धन की अधिक से अधिक उपयोगिता देश वा संसार के सुख के भाव से देखा जाता है। और मैं पहले लिख चुका हूँ कि उस विषय पर मुझे यहाँ लिखना नहीं है। महान् पुरुषों के हृदय दूसरों के दुख को देख ही नहीं सकते। यदि उनके पास दूसरों के दुख को दूर करने की कोई शक्ति है तो वे 'अपना' आगा पीछा नहीं देखते, वे 'अपनी' आवश्यकताओं का ब्योरा नहीं फैलाते। उनको आनन्द इसी में आता कि वे दूसरों की सहायता कर सकें और औरों को सुखी देखने ही में उनका सुख है। साधारण लोग भी थोड़ा बहुत इस सुख का कभी कभी अनुभव करते हैं।

१९१०

❀ ❀ ❀

हिन्दी का व्याकरण

श्रीयुत कामताप्रसाद गुरु

हिन्दी की इतनी उन्नति होने पर भी आज तक हिन्दी में न तो हिन्दी का व्याकरण ही लिखा गया और न (उससे कठिन) उसका इतिहास ही बना। यद्यपि ये दोनों काम एक प्रसिद्ध सभा द्वारा हो रहे हैं तो भी ये काम एक ही शिक्षित महाशय की शक्ति के बाहर नहीं हैं। विलायत-वालों ने हिन्दुस्तान सम्बन्धी अनेक विषयों के साथ-साथ अपनी भाषा में हिन्दी साहित्य का इतिहास और उसका व्याकरण भी यथोचित पूर्णता से लिखा है, पर हम लोग उस आधार पर भी कुछ न कर सके। हमसे कई लोगों ने यह पूछा कि हिन्दी में ऐसा साहित्य-संग्रह और व्याकरण बताओ जो एफ० ए० के दर्जे में पढ़ाया जाय। पाठक गण कदाचित इस प्रश्न का उत्तर दे सकेंगे।

हिन्दी के व्याकरण जो हिन्दी में पहले पहल लिखे गये हैं वे बहुधा पादरी लोगों ने लिखे हैं। हम लोग "भाषा-भास्कर", की निन्दा किया करते हैं, पर उसके सूत्र आज तक "भाषा-प्रभाकर" में पाये जाते हैं। साहित्य के आधार से व्याकरण लिखना हम लोगों को इतना कठिन हो रहा है कि पण्डित केशवराम भट्ट को अपनी पुस्तक में उर्दू शायरों के उदाहरण देने पड़े हैं। अब यहाँ यह सन्देह हो सकता है कि क्या हिन्दी-रचना अभी इतनी स्थिर नहीं है कि उसका व्याकरण लिखा जा सके, अथवा कविता के रस में मत्त होने से हम लोगों को व्याकरण

तलछट के समान देख पड़ता है। जो हो, पर व्याकरण के बिना हिन्दी की शोभा फीकी है और शिक्षित हिन्दुस्तानियों के लिए यह कलंक की बात है। बंगाली और मराठी भाषाओं में एक आने से लेकर सोलह आने व्याकरण अँगरेजी और देश-भाषा में लिखे हुए पाये जाते हैं, पर हिन्दी में ऊँची कक्षाओं में भी "बालबोध-व्याकरण" पढ़ाया जाता है। हाल में "वर्तमान अँगरेजी व्याकरण के ढंग पर" लिखा हुआ एक और व्याकरण प्रचलित है जो उसी प्रकार काम दे रहा हे। पाठ्य पुस्तकें नियत करने वालों को विवश होकर व्याकरण के नाम से कोई न कोई पुस्तक चुननी ही पड़ती है।

इस लेख में हम व्याकरण की पुस्तकों के विषय में कुछ न कह कर उसके वाद-ग्रस्त विषयों का उल्लेख करते हैं, और हमें इस बात की आशा है कि हिन्दी-व्याकरण लिखने वाले इसका निर्णय करेंगे। कुछ उदाहरण अशुद्ध भाषा के भी दिये जायँगे।

(१) राजा का बहुवचन--कई पुस्तकों और पत्रों में 'राजे' शब्द पाया जाता है। आगरे और दिल्ली की बोली में 'राजे' शब्द नहीं आता है। प्रेमसागर और परीक्षा-गुरु इसके लिए प्रमाण हैं। राजा शिवप्रसाद ने भी 'राजे' कभी नहीं लिखा। आज तक की छपी व्याकरण-पुस्तकों में भी राजा का बहुवचन 'राजे' नहीं बताया गया। उर्दू में भी 'राजे' नहीं होते। तो क्या अब इस रूपान्तर को एकदेशीय प्रयोग कहना चाहिए? व्याकरण बहुधा लिखी हुई भाषा पर से बनता है। और लिखने की तथा बोलने की भाषाओं में प्रायः सभी कहीं अन्तर हुआ करता है। ऐसी अवस्था में 'राजे' लिखना ठीक है या नहीं? और यह नया रूपान्तर केवल लेखकों की भूल के कारण व्याकरण में लिया जाना चाहिए या नहीं? काल पाकर 'राजे' प्रबल होकर राजा को कुछ न समझेंगे। यहाँ उन नियमों के बताने की आवश्यकता नहीं है जिनके कारण घोड़ा का घोड़े हो जाता है, पर पिता का पिते नहीं होता। मेरा मत यह है कि दिल्ली और आगरे की खड़ी बोली के अनुसार 'राजे' अशुद्ध है।

(२) भाववाच्य--हिन्दी में अकर्मक क्रियाओं का कर्मवाच्य रूप पाया जाता है और उनके साथ कोई कर्त्ता नहीं रहता। इस रूप को भाववाच्य कहते हैं। इस रूप से बहुधा अशक्यता का बोध होता है जैसे, मुझसे उठा नहीं जाता। कभी-कभी कर्मवाच्य में भी यही अर्थ रहता है, जैसे मुझसे उसका दुख न देखा गया। यहाँ तक तो सब बातें व्याकरण की हैं। अब हिन्दी में कहीं-कहीं एक निराला ही भाववाच्य पाया जाता है, जिसका किसी व्याकरण में पता नहीं लगता। लेखों में भी विशेष लोग और विशेष स्थान ही इसके जन्मदाता हैं। वह भाववाच्य यह है "इसके पीछे नौकर को बुलाया गया।" जान पड़ता है कि जल्दी के कारण शब्दों का परस्पर सम्बन्ध ध्यान में न रहने से इस प्रयोग की सृष्टि हुई है। हमने एक व्याकरण की प्रस्तावना में यह रचना देखी, पर वाच्य के प्रकरण में उसके विषय में कुछ भी लिखा न पाया। इससे यह अनुमान होता है कि लोग ऐसा बोलते हैं और लिखते हैं, पर उसे व्याकरण में स्थान पाने के योग्य नहीं समझते। यह वाच्य बहुधा उपन्यासों में मिलता है जिनके लेखक वर्णन में तल्लीन होकर कभी कभी वाक्यों का सिर-पैर भूल जाते हैं। क्या यह वाच्य भी व्याकरण में लिया जाय?

(३) कर्मणि प्रयोग--यह विषय व्याकरणों में इस नाम से बहुधा नहीं मिलता। भाषाभास्कर में केवल एक जगह इस सम्बन्ध में "प्रयोग" शब्द नाममात्र के लिए आया है। अँगरेजी में हार्नली ने जो गौड़ भाषाओं का व्याकरण लिखा है उसमें यह विषय समझाया है और "प्रयोग" शब्द के विषय में लिखा है कि ये नाम देशी हैं। जिस प्रयोग का वर्णन हम यहाँ करते हैं उसका उदाहरण यह है:--मैंने आपकी बात सुनी। यहाँ पर कर्म के लिंग और वचन क्रिया के अनुसार होने से इस रचना को कर्मणि प्रयोग कहते हैं। मराठी में यह विषय आता है और गोपाल पाध्ये की भाषातत्वदीपिका में मराठी के अनुसार इसका वर्णन हिन्दी में किया गया है। इस विषय में जो भूल होती है उसके कई उदाहरण एक बार सरस्वती में हरिश्चन्द्र और मुद्राराक्षस से दिये गये थे। लवकुश चरित में इसके कई उदाहरण हैं जो छत्तीसगढ़ मित्र में बताये गये थे, जैसे:--

मैंने **टिप्पणी** भी लिख **दिया** है।
अस कहि सकल **कथा** तेहि केरी।
कह्यो कीश रिस रोकि घनेरी॥
"**युद्धाज्ञा** सिय सों बहुरि **पायो** लव रणधीर।"

ऐसी रचना सब जगह नहीं पाई जाती है। राजा शिवप्रसाद ने जिस काशी में रह कर ऐसी भाषा नहीं

लिखी उसी पुरी से ऐसी भाषा का देशान्तरों में प्रचार होना बड़े ही अचरज की बात है। यदि ये बातें छपने में हो जाती हों तो फिर उसके लिए कुछ उपाय ही नहीं है। क्या इस रचना के समर्थन में भी व्याकरण में एक नियम बढ़ाना पड़ेगा!!!

(४) स्त्रीलिंग हाथी--किसी किसी (बनारसी) व्याकरण में हाथी स्त्रीलिंग लिखा है, क्योंकि लोग उसे वहाँ स्त्रीलिंग बोलते हैं। बुंदेलखंड के कुछ भागों में मोर भी स्त्रीलिंग है, पर व्याकरणों में मोर पुँल्लिंग और मोरनी स्त्रीलिंग लिखा जाता है। क्या हिन्दी का व्याकरण बनारसी हिन्दी के अनुसार होना चाहिए? या यह समझना चाहिए कि बनारसी लोग शुद्ध हिन्दी नहीं बोलते? हाथी शब्द सब जगह स्त्रीलिंग नहीं है, क्योंकि संसार के सबसे बड़े जन्तु का लिंग जानने में सब को कठिनाई नहीं पड़ती। किसी पुस्तक में भी हाथी स्त्रीलिंग नहीं है तो फिर बोलने की भाषा को, और तिस पर भी केवल एक देशी भाषा को, इतना मान क्यों दिया जाय? देश-भेद के कारण भाषा कई प्रकार की अवश्य होती है, पर सब लोग कई कारणों से एक विशेष स्थान की भाषा को प्रमाण मान कर उसी के अनुसार व्याकरण लिखते हैं। उर्दू में भी दिल्ली और लखनऊ ही प्रमाण है, क्योंकि इन दो स्थानों में भाषा को राजाश्रय प्राप्त था और लेखकों की संख्या अधिक थी। उर्दू में जब किसी शब्द के विषय में या किसी रचना के सम्बन्ध में विवाद होता है तब यही पूछा जाता है कि यह बात किसके कलाम में आई है। हिन्दी का विस्तार बहुत है, इसलिए इस भाषा का कोई माननीय रूप अवश्य निश्चित होना चाहिए। यदि ऐसा न होगा तो सब को "हमने आपकी बात नहीं सुना" लिखना पड़ेगा, और फिर इस बात की खोज में रहना पड़ेगा कि सब प्रदेशों के सब रूप किस पत्र में इकट्ठे मिल सकेंगे। समालोचना के अभाव से तो यहाँ तक हुआ है कि भूलों से भरी हुई हिन्दी पुस्तकें भी ऐसी ऊँची जगह पहुँच गई हैं जहाँ पर विद्या का अंत हो जाता है और भाषा के झगड़ालू लोग झांक तक नहीं सकते।

(५) कोई-कोई 'चाहिये' का रूप 'चाहिए' लिखकर उसका बहुवचन चाहिएं लिखते हैं, यद्यपि यह शब्द अव्यय रूप है। 'लड़की' का बहुवचन कहीं 'लड़कियें' और कहीं 'लड़कियाँ' लिखा जाता है। 'मिलाया' का स्त्रीलिंग रूप कोई 'मिलाई' और कोई 'मिलायी' लिखते हैं। कोई 'जावे' और कोई 'जावै' लिखते हैं। इन सब उदाहरणों में यह नहीं जान पड़ता है कि ये रूप उच्चारण के अनुसार होते हैं अथवा इन रूपों के अनुसार उच्चारण करना पड़ता है।

(६) "कद्रू ने विनता को दासी बना ली"--इस प्रकार के वाक्यों में बहुधा भूलें होती हैं। और ये भूलें प्रायः सभी स्थानों में पाई जाती हैं। ऊपर के उदाहरण में दो कर्म हैं। जब सकर्मक क्रिया में एक ही कर्म रहता है और उसकी विभक्ति प्रकट रहती है तब अप्रधान कर्त्ता के साथ क्रिया अन्य पुरुष पुँल्लिग एकवचन में रहती है, जैसे, "रानी ने सहेलियों को बुलाया," इस नियम के अनुसार ऊपर के वाक्य की क्रिया मुख्य कर्म, "विनता को" के कारण "बना लिया" होनी चाहिए, पर उसके साथ एक दूसरा कर्म "दासी" है जो क्रिया के निकट और स्त्रीलिंग है। इससे "बना ली" भी ठीक जान पड़ता है। इसी प्रकार का उदाहरण "गाड़ी को खड़ा करो" है। इस वाक्य को कोई कोई "गाड़ी को खड़ी करो," कहते हैं। एक और वाक्य हम इसी प्रकार का लिखते हैं। "साधु ने स्त्री को रानी समझा (समझी?)" इस वाक्य में कठिनाई यही है कि क्रिया किस कर्म के अनुसार होनी चाहिए।

(७) अब हम कुछ भूलें एक हिन्दी मासिक पत्र से उद्धृत करते हैं। यह पत्र नागपुर के कृषिविभाग से प्रकाशित होता है और ६ वर्ष से मध्यप्रदेश के किसानों को शिक्षा दे रहा है। ये भूलें छठी पुस्तक के आठवें नम्बर में हैं। इस पत्र की भाषा के विषय में, जहाँ तक जाना गया है, आज तक किसी ने कुछ नहीं लिखा।

(१) सुधारणा करने की एक रीति है कि जो साधी होकर खर्च की नहीं है और वह हर एक किसान के ताकद के बाहर नहीं है।

(२) कन्हार यह काली नरम जमीन होती है।

(३) सिंचाई के न होने से यहाँ की रैयत को जो बुरा अनुभव आया है उस पर से उन्होंने यह सिखापन लिया है कि बुरे सालों में अगर किसी बात की वे आशा कर सकते हैं तो वह केवल प्राण बचाना यही है।

(४) इन लोगों को कामदार यह नाम दिया गया है।

(५) शर्त यह रहती है कि एक साल के आखीर में उतना ही बीज उसने वापिस ला देना चाहिये।

(६) यह काम सरकार का न रहना चाहिए कि वे बीज पैदा करने के लिये खेतियाँ रखे।

इन उदाहरणों से दो बातें जान पड़ती हैं (१) अँगरेजी का जो अनुवाद होता है वह शब्द प्रति शब्द रहता है (२) अनुवाद करने वाला हिन्दी नहीं जानता और उसकी मातृभाषा कदाचित मराठी है। प्रायः इसी प्रकार की भाषा उन प्रश्न-पत्रों में रहती है जो हिन्दी नार्मल स्कूल के विद्यार्थियों की परीक्षा में दिये जाते हैं। भाषा और व्याकरण का संहार इससे अधिक और क्या होगा?

(८) एक व्याकरण में, जिसका वर्णन ऊपर हो चुका है 'किन्हीं ने' 'किन्हीं को', 'किन्हीं से', आदि रूप दिये हैं। पुस्तक में इन शब्दों के उदाहरण वाक्य बनाकर नहीं लिखे गये। इसलिए हम यहाँ पर, वाक्यों में उनका प्रयोग करते हैं।

यह काम **किसी** ने नहीं किया।
यह काम **किन्हीं ने** नहीं किया।
यह पुस्तक **किसी को** दे दो।
यह पुस्तक **किन्हों को** दे दो॥

व्याकरण की बहुत सी पुस्तकों में लिखा है कि 'कोई' शब्द बहुवचन में घटित नहीं होता और साहित्य में भी इस प्रकार के उदाहरण नहीं मिलते। बोलने में भी ऐसी रचना नहीं पाई जाती। ऐसी अवस्था में यह रूप कहाँ से आया, इसका निर्णय कठिन है। जो लोग हिन्दी का शुद्ध व्याकरण लिखते हैं वे बहुधा साहित्य पढ़ कर नियम बनाते हैं। वे अँगरेजी के व्याकरण का हिन्दी में अनुवाद कर उस अनुवाद को हिन्दी-व्याकरण नहीं कहते।

(९) "राजा को नौ पुत्र थे।" इस प्रकार के कई उदाहरण भारतेन्दु की पुस्तकों में पाये जाते हैं। कोई कोई लेखक "को" के बदले "के" लिखना अधिक शुद्ध समझते हैं। "उसका एक पुत्र था।" "उसको एक पुत्र था" और "उसके एक पुत्र था।" इन एकार्थी तीन वाक्यों में थोड़ा सा अर्थभेद है और उस पर ध्यान रखना चाहिए। इस प्रकार के वाक्यों में "को" का उपयोग मराठी में बहुत होता है जैसे त्याला एकंदर सहा मुलें आहेत। संभव है कि मराठी का प्रभाव हिन्दी पर पड़ा हो।

(१०) क्रियार्थक संज्ञा—इसके सम्बन्ध में तीन प्रकार की रचना देखने में आती है:— "तुमको यह बात कहना पड़ेगा", "तुमको यह बात कहना पड़ेगी", "तुमको यह बात कहनी पड़ेगी।" इस प्रकार के कई उदाहरण पुस्तकों में मिलते हैं। जो लोग पहले उदाहरण का उपयोग करते हैं वे "बात कहना" को एक शब्द मानते हैं और अन्तिम शब्द के अनुसार क्रिया रखते हैं। दूसरे उदाहरण ये हैं—"बातें करना कठिन थीं" "बातें करनी कठिन थीं," "बातें करना कठिन था।" यहाँ दो उदाहरणों में कर्त्ता "बातें" हैं और पहले उदाहरण में क्रियार्थक संज्ञा विशेषण के समान आकर "बातें" संज्ञा से लिंग में अन्वित होती है।

१९११

❀ ❀ ❀

आत्मोत्सर्ग

श्रीयुत गणेशशंकर विद्यार्थी

संसार के विस्तीर्ण कर्म-क्षेत्र में सब प्राणियों द्वारा अगणित काम प्रति दिन नहीं, प्रति घंटा, प्रति मिनट, यहाँ तक कि प्रति पल होते रहते हैं। अच्छे कामों के सम्पादन में कुछ विशेष गुणों का परिचय, किसी विशेष दशा में, देना ही आत्मोत्सर्ग कहलाता है। अच्छे काम करने में ही आत्मोत्सर्ग किया जाता है परन्तु प्रत्येक अच्छे काम के करने में आत्मोत्सर्ग करने की आवश्यकता नहीं होती। अच्छे काम करने के लिए आत्मोत्सर्ग की विशेष आवश्यकता नहीं होती। परन्तु यह निश्चित है कि आत्मोत्सर्ग सुकर्म के लिए ही किया जाता है।

आत्मोत्सर्ग करने वाले में साहस का होना परमावश्यक है। संसार के सब काम—बड़े अथवा छोटे—बुरे

अथवा भले—साहस के बिना नहीं होते हैं। बिना साहस के बड़े कामों का होना तो कठिन ही नहीं, किन्तु असंभव सा है। संसार के सभी महापुरुष, जिन्होंने बहुत से विलक्षण खेल इस संसार रूपी नाट्य-शाला में दिखलाकर इतिहास के पृष्ठों को अपने नाम से सुशोभित किया है, साहसी थे। बिना किसी प्रकार का साहस दिखलाये किसी जाति या देश का इतिहास ही नहीं बन सकता। अपने साहस के कारण ही अर्जुन, भीम, भीष्म, अभिमन्यु इत्यादि आज हमारे हृदयों में जागरूक हैं। आल्पस् पर्वत के विशाल शिखरों को पार करने वाले हनीबल और नपोलियन का नाम वीर-वरों के शुभ नामों के साथ केवल उनके अतुलनीय साहस के कारण ही लिया जाता है। यह साहस ही का प्रभाव था जिसने तैमूर ऐसे लंगड़े गड़रिये को, बाबर ऐसे सैकड़ों दफे परास्त किये गये क्षुद्र भूमिपाल को, शिवा जी और क्रोमवेल ऐसे सामान्य व्यक्तियों को, रणजीतसिंह और संग्राम सिंह ऐसे काने खुतरे को कुछ से कुछ कर दिया।

आत्मोत्सर्ग करने वाले मनुष्य का साहसी होना तो परमावश्यक है, परन्तु साहसी मनुष्य का आत्मोत्सर्गी होना आवश्यक नहीं, क्योंकि केवल साहस ही प्रकट करना आत्मोत्सर्ग नहीं कहलाता। सूर-वंश के क्रूरकर्म्मा बादशाह महम्मद आदिल पर, भरे दरबार में, कितने ही सिरों और धड़ों को धरणी पर गिराकर एक मुसलमान युवक ने आक्रमण करने का असीम साहस प्रकट किया था। कारण यह था कि बादशाह ने उसके पिता की जागीर जब्त कर ली थी। इसी से उस युवक ने इतने साहस का काम किया। युवक मारा गया। उसके साहस और उसकी निर्भीकता का कुछ ठिकाना है। परन्तु क्रोधान्ध होकर स्वार्थ-वश ऐसा साहस करने से युवक का यह कार्य किसी प्रकार प्रशंसनीय नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार का साहस चोर और डाकू भी कभी कभी कर गुजरते हैं। राजे महाराजे भी अपनी कुत्सित इच्छाओं को पूर्ण करने के लिए कभी कभी इससे भी बढ़ कर साहस के काम कर डालते हैं। ऐसा साहस नीच श्रेणी का साहस है।

मध्यम श्रेणी का साहस प्रायः शूर-वीरों में पाया जाता है। वह उनके उच्च विचार और निर्भीकता को भली भाँति प्रकट करता है। इस प्रकार के साहस वाले मनुष्यों में बेपरवाही और स्वार्थ-हीनता की कमी नहीं होती; परन्तु उनमें ज्ञान की कमी अवश्य पाई जाती है। अकबर बादशाह के पास दो राजपूत नौकरी के लिए आये। अकबर ने उनसे पूछा कि तुम क्या काम कर सकते हो? वे बोले--"जहाँपनाह, करके दिखलावें या केवल कह कर।" बादशाह ने करके दिखलाने की आज्ञा दी। राजपूतों ने घोड़ों पर सवार होकर अपने-अपने बर्छे सँभाले और अकबर के सामने ही एक दूसरे पर वार करने लगे। थोड़ी देर बाद वे एक दूसरे पर बेतरह टूट पड़े। बादशाह के देखते-देखते दोनों घोड़े से नीचे आ रहे और मर कर ठंडे हो गये। बादशाह पर इस वीरता का बड़ा प्रभाव पड़ा। इस प्रकार का साहस निस्संदेह प्रशंसनीय है; परन्तु ज्ञान की आभा की कमी के कारण निस्तेज सा प्रतीत होता है।

आत्मोत्सर्ग के लिए सर्वोच्च श्रेणी के साहस की आवश्यकता होती है। ऐसे साहस के काम करने के लिए हाथ पैर की बलिष्ठता आवश्यक नहीं; धन, मान इत्यादि का होना भी आवश्यक नहीं—जिन गुणों का होना आवश्यक है वे हृदय की पवित्रता तथा उदारता और चित्त की दृढ़ता हैं। ऐसे गुणों की प्रेरणा से उत्पन्न हुआ साहस तब तक पूर्णतया प्रशंसनीय नहीं कहा जा सकता जब तक उसमें एक और गुण सम्मिलित न हो। इस गुण का नाम कर्तव्य-परायणता है। कर्तव्य के विचार से युक्त होने ही पर साहसी मनुष्य आत्मोत्सर्गी बन सकता है। कर्तव्य का विचार प्रत्येक साहसी मनुष्य में होना चाहिए। इस विचार से शून्य होने पर, कोई भी मनुष्य, फिर चाहे उसके और विचार कैसे ही अच्छे क्यों न हों, मानव जाति की कुछ भी भलाई नहीं कर सकता। अपने कर्तव्य से अनभिज्ञ मनुष्य कभी भी परोपकारपरायण या समाज-हितचिन्तक नहीं कहा जा सकता। बिना इस विचार के मनुष्य अपने परिवार—नहीं-नहीं, अपने शरीर अथवा अपनी आत्मा तक का कोई उपकार नहीं कर सकता। कर्तव्यज्ञान-शून्य मनुष्य को मनुष्य नहीं, पशु समझना चाहिए।

आत्मोत्सर्गकर्ता के लिए कर्तव्य-परायण बनना परमावश्यक है। बिना कर्तव्य-परायण हुए मनुष्य आत्मोत्सर्ग नहीं कर सकता। परन्तु विदित रहे कि कर्तव्य-परायण ही होना आत्मोत्सर्गी होना नहीं है। आत्मोत्सर्गी के हृदय में यह बात अवश्य उत्पन्न होनी चाहिए कि जो कुछ मैंने किया वह केवल अपना कर्तव्य किया।

मारवाड़ के भौरूदा गाँव का जमीदार बुद्धनसिंह किसी झगड़े के कारण स्वदेश छोड़ जयपुर चला गया और वहीं बस गया। थोड़े ही दिनों बाद मरहठों ने मारवाड़ पर आक्रमण किया। यद्यपि बुद्धन मारवाड़ को बिलकुल ही छोड़ चुका था, तथापि शत्रुओं के आक्रमण का समाचार पाकर और मातृभूमि को संकट में पड़ा हुआ जान कर, उसका रक्त उबल पड़ा। स्वदेश-भक्ति ने उसे बतला दिया कि यह समय ऐसा नहीं है कि तू अपने घरेलू झगड़ों को याद करे। उठ और अपना कर्तव्य-पालन कर। इस विचार ने उसे इतना मतवाला कर दिया कि वह अपने १५० साथियों को लेकर, बिना किसी से पूछे, जयपुर से तुरन्त चल पड़ा। देश भर में मरहठे फैले हुए थे। उनके बीच से होकर निकल जाना कठिन काम था। परन्तु बुद्धन के साहस के सामने उस कठिनता को मस्तक झुकाना पड़ा। एक दिन अपने मुट्ठी भर साथियों को लिये वह मरहटों के बीच से होकर निकल ही गया। इस तरह निकल जाने से उसके बहुत से साथी रण-क्षेत्र रूपी अग्नि-कुण्ड में हुत हो गये। जीवित बचे हुओं में बुद्धन सिंह भी था। वह समय पर अपने देश और राजा की सेवा करने के लिए पहुँच गया। इस घटना को हुए बहुत दिन हो गये; परन्तु आज तक वीर-जाति राजपूत अपने कर्तव्य-परायण वीर बुद्धन की वीरता को सम्मानपूर्वक याद करती है। राजपूत-महिलायें आज भी बुद्धन और उसके वीर साथियों की वीरता के गीत गाकर चंचलों के चित्त को भी गंभीर और स्तब्ध करती हैं। भौरूदा में आज भी एक स्तम्भ उन वीरों की यादगार में खड़ा हुआ इतिहास-वेत्ताओं के हृदय को उत्साहित करता है।

इन गुणों के होने पर भी आत्मोत्सर्ग करने वाले के लिए स्वार्थत्याग करना भी परमावश्यक है। इस संसार में हजारों ऐसे काम हुए हैं जिनको लोग बड़े उत्साह से कहते और सुनते हैं। उन कामों को वे बहुत अच्छा समझते हैं और उनके करने वाले को सराहते हैं। परन्तु वास्तव में उन कामों में थोड़े ही ऐसे हैं जो स्वार्थ से खाली हों। समय पड़ने पर अपनी जान पर खेल जाने, अथवा असामान्य साहस प्रकट करने, में सदा आत्मोत्सर्ग नहीं होता; क्योंकि बहुधा ऐसे काम करने वाले यशोलाभ के लोग से, अपने नाम को कलंकित होने से बचाने के इरादे अथवा लूट मार के द्वारा धनोपार्जन करने की इच्छा से, ऐसे मदान्ध हो जाया करते हैं कि वे अपने मतलब के लिए कठिन से भी कठिन काम करने में संकोच नहीं करते।

आत्मोत्सर्गी व्यक्ति में एक गुप्त शक्ति रहती है, जिसके बल से वह दूसरे मनुष्य को दुःख से बचाने के लिए प्राण तक देने को प्रस्तुत हो जाता है। धर्म, देश, जाति और परिवार वालों ही के लिए नहीं, किन्तु संकट में पड़े हुए एक अपरिचित व्यक्ति के सहायतार्थ भी, उसी शक्ति की प्रेरणा से वह सारे संकटों का सामना करने को तैयार हो जाता है। अपने प्राणों की वह लेश मात्र भी परवाह नहीं करता। हर प्रकार के क्लेशों को वह प्रसन्नतापूर्वक सहता और स्वार्थ के विचारों को वह अपने चित्त में फटकने तक नहीं देता।

इस संसार में लाखों मनुष्य ऐसे हैं जो दुर्गुणों में शैतान के भी कान काटते हैं। उनके क्रूर कामों को सुन कर रोमांच हो आता है। संसार में ऐसे कामों की कुछ कमी नहीं है। ऐसे काम "कुकर्म" कहलाते हैं। कुकर्म बहुत ही बुरा है। परन्तु बुरी बातों से कभी-कभी भलाई भी हो जाती है। यदि सब काम अच्छे होते और कुकर्म का नाम न होता, तो अच्छे कामों की कदर ही न होती। इस दशा में वे सब सामान्य काम समझे जाते; कोई किसी को भी अपने से उच्चतर न समझता—सब कृतघ्नता के दास और अभिमान की मूर्ति बन बैठते। परन्तु ईश्वर की माया बड़ी विचित्र है। उसने संसार को नाट्य-शाला बना रक्खा है। उसकी रंगभूमि पर मनुष्यात्मायें नटवत् अपना अपना अच्छा या बुरा खेल दिखला रही हैं। अच्छे बुरे दोनों तरह के काम होते हैं। पर बुरे काम अधिक होते हैं। बुरे कामों की अधिकता ही के कारण हमने अच्छे कामों और उनके करनेवालों का सम्मान करना सीखा है। संसार को बुरे कामों ने अन्धकार-पूर्ण बना रक्खा है। अच्छे काम उसमें लेम्प का काम देते हैं। चन्द्र और तारागण का काम सुकर्म उसी समय दे सकते हैं जब कुकर्म-रूपी रात्रि विद्यमान हो। तात्पर्य यह कि कुकर्मों की अधिकता ही के कारण अच्छे काम प्रशंसनीय समझे जाते हैं और अच्छे कामों की असलियत अच्छी तरह प्रकट होने के लिए ही संसार में बुरे कामों का होना आवश्यक है। आत्मोत्सर्ग रूपी सूर्य्य भी अपने पूर्ण तेज से तभी प्रकट होता है जब संसाररूपी आकाश कुछ समय तक कुकर्मरूपी काले बादलों से घिरा रह चुका हो।

यदि आप आत्मोत्सर्गी बनने के अभिलाषी हों तो आपको अवसर की राह देखने की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि आत्मोत्सर्ग करने का अवसर प्रत्येक मनुष्य के जीवन में, पल-पल में, आया करता है। देश, काल, और कर्तव्य पर विचार कीजिए और स्वार्थ-रहित होकर साहस को न छोड़ते हुए कर्तव्य-परायण बनने का प्रयत्न कीजिए।

१९११

❀ ❀ ❀

कुछ धातुओं और शब्दों का इतिहास

बाबू जगन्मोहन वर्मा

संस्कृत भाषा अत्यन्त स्वाभाविक भाषा है। उसके सभी शब्द धातुज या यौगिक हैं। सबसे पहले संस्कृत-शब्दों के यौगिक अथवा धातुज होने का पता महर्षि शाकटायनाचार्य को लगा। निरुक्त में यास्काचार्य लिखते हैं:—"नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो वैयाकरणः नैरुक्त-समयश्च" अर्थात् वैयाकरण और नैरुक्तक शाकटायनाचार्य का मत है कि संस्कृत-भाषा के सब नाम आख्यातज अथवा धातुज हैं। इसी बात का समर्थन महाभाष्य में भगवान पतंजलि ने—"नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम्" लिख कर किया है, जिसका अर्थ यह है कि शाकटायनाचार्य ने अपने व्याकरण और निरुक्त में नाम को धातुज कहा है। इन शाकटायनाचार्य ने व्याकरण और निरुक्त पर बहुत से ग्रन्थ रचे थे, जिनमें कितने ही तो लोप हो गये। पर व्याकरण, ऋक्तन्त्र, धातुपाठ, उणादि आदि अब तक मिलते हैं।

भारतवर्ष के विद्वानों की यह चाल थी कि समय-समय पर वे प्राचीन ग्रन्थों का सुधार या संस्करण किया करते थे और अत्यन्त भेद पड़ने ही पर वे नवीन ग्रन्थों की रचना करते थे। स्वयं वेदों की संहिताओं का कई बार संकलन हुआ है। और वास्तव में किसी जाति की उन्नति के लिए यही उपयुक्त भी है। यद्यपि ऐसा करना विद्या और विज्ञान के लिए लाभकारी अवश्य है। पर ऐतिहासिक विचारों के लिए हानिकारक है। ऐतिहासिक तथ्य ढूँढ़ने वाला पीछे की मिली हुई बातों को देखकर चक्कर में आ सकता है और ग्रन्थकर्ता के काल को सैकड़ों वर्ष पीछे घसीट सकता है। इसी से भारतवर्ष के ग्रन्थकारों के विषय में पाश्चात्य विद्वानों को भ्रम हुआ है जो सर्वथा अनिवार्य है।

धातुपाठ में धातुओं का संग्रह है। इन धातुओं की यद्यपि गणना कर दी गई पर इनकी संख्या वास्तव में कितनी है, इसका निश्चय आज तक नहीं हुआ। किसी ने २४९०, किसी ने १७५०, किसी ने कुछ, किसी ने कुछ मानी है। प्राचीन आचार्यों की इस विषय में यही शिक्षा रही है—"धातुं ज्ञात्वा प्रत्ययं कल्पनीयं प्रत्ययं ज्ञात्वा धातुः कल्पनीयः।" अर्थात् यदि धातु का पता चल जाय तो प्रत्यय की कल्पना कर लेनी चाहिए। और यदि प्रत्यय का पता लग जाय तो धातु की कल्पना कर लेनी उचित है।

इन धातुओं को आर्य्यों ने कहाँ से लिया, इस विषय में प्राचीनों ने कोई मत नहीं प्रकट किया है। पर आधे से अधिक धातु अनुकरण-जन्य हैं, जिससे अनुमान होता है कि आर्य्यों ने धातुओं को शब्दों के अनुकरण से लिया है। इन्हीं धातुओं से आर्य्य-भाषा निकली थी, जिससे समस्त भाषायें जिनका सम्बन्ध आर्य्य-भाषा से है, निकलीं। आर्य्य लोग यद्यपि आदिम काल में सारस्वत प्रदेश में रहते थे, पर पीछे से, जब उनकी संख्या बढ़ी तब कश्यप सागर से श्री गंगा-यमुना के किनारे तक फैल गये; इसी से इनकी प्रान्तिक भाषाओं में विभेद पड़गया। स्वयं व्याकरण में प्राच्य, प्रतीच्य आदि देशों के प्रयोग-सम्बन्धी सूत्रों को देखने से इसका अनुमान होता है। धातुओं के अर्थों में भी क्रमशः अन्तर पड़ने लगा। शब्दों के अक्षरों में भी अभ्यास करते-करते विपर्य्यय हो गया। कहीं किसी धातु का आख्यात रहा,

कहीं उसके विकार का ही प्रयोग अवशेष रह गया। यास्काचार्य्य जी निरुक्त में 'शवति' धातु पर लिखते हैं—"शवतिः गति-कर्म्मा कम्बोजेषु विकार इत्यार्य्याणाम्" अर्थात् शवति (शव) धातु 'गति' अर्थक है। उसका प्रयोग कम्बोज में, जो पारस का एक प्रान्त विशेष है, होता है। पर आर्यों की भाषा में इस धातु से बने हुए केवल 'शव' शब्द का प्रयोग अवशेष रह गया है।

वर्तमान फारसी भाषा में अरबी शब्द अधिक मिल गये हैं। फिर भी शुद्ध फारसी पुरानी फारसी वा ज़न्द भाषा से निकली है। इस लिए उसका अधिक सम्बन्ध संस्कृत से है। यह शवति (शव) धातु, जिसका कम्बोज में प्रयोग होना यास्काचार्य्य ने लिखा है, फारसी धातु (شدن) का मूल कारण है। इसका अर्थ यद्यपि होना भी है, तथापि फारसी के प्रसिद्ध कवि सादी ने, जो बारहवीं शताब्दी में हुए थे, इसका प्रयोग, अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ गुलिस्ताँ में, गति के अर्थ में किया है :—

شد غلامے کہ آب جو آرد
آبجو آمد و غلام بہ برد

अर्थात् सेवक नदी का पानी लेने गया। नदी की बाढ़ आई और सेवक को बहा ले गई।

आज हम कुछ शब्दों का इतिहास लिखने का साहस, इसी आधार पर करते हैं और आशा करते हैं कि वह विद्यानुरागियों के लिए रुचिकर होगा।

जब कोई पदार्थ ऊपर से गिरता है तब उसके गिरने से 'पट वा पत' इत्यादि के सदृश शब्द होता है। इस प्रकार पदार्थों के गिरने में बार बार शब्द होते देख आर्यों ने 'पत'* धातु को गिरने के अर्थ में ग्रहण किया। जब उनको किसी पदार्थ के गिरने का संकेत करना होता था, तब वे 'पत्' का प्रयोग करते थे। काल-भेद से इसके पतित, अपतत्, पपात आदि आख्यात-रूप कालान्तर में हो गये। फिर उपसर्गों द्वारा इसके अर्थों में विशेषता उत्पन्न हुई।

इसी पत् धातु से पत्र शब्द बना, जिसका अर्थ पत्ता है। पत्ता सूखने या टूटने पर पेड़ से गिरता है। इसी लिए आर्यों ने पत्ते को पत्र कहना प्रारम्भ किया। पीछे पत्र शब्द गिरने के भाव से अलग होकर आकृति में लगाया गया और सब पदार्थ जो पतले, लम्बे और चौड़े होते थे 'पत्र' शब्द के वाच्य ठहराये गये। यहाँ तक कि भोजपत्र (भूर्जपत्र) जो एक वृक्ष की छाल है, पत्र शब्द से ग्रहण किया जाने लगा। चिड़ियों के परों को पत्ते के आकार का देख कर पत्र कहने लगे और बाण में पंख लगाने से उसे पतत्री कहना प्रारम्भ किया।

पूर्व-काल में जब लोगों ने बैठ कर खाना खाना प्रारम्भ किया तब वे उसे पत्ते पर रख कर खाते थे, अथवा वस्तुओं को ही पत्ते पर रखते थे। पीछे ज्यों ज्यों आवश्यकता बढ़ी, लोग बहुत से पत्तों को कुश से डोभकर दोना, पत्तल आदि बनाने लगे। ऐसा करने में उनको कई पत्तों को तले ऊपर रख कर सीना पड़ता था। इसीलिए वे पत्तों की तह को भी पत्र कहने लगे। पीछे इसी पत्र से आद्यन्त विपर्य्यय द्वारा भाषा का 'परत' बना जो तह के अर्थ में प्रयुक्त होता है। वे लोग उन पत्तों से बने हुए बर्तनों को पात्र कहते थे। बहुत पीछे जब उन लोगों ने मिट्टी आदि के पात्र बनाना प्रारम्भ किये तब उन्हें भी, तदाकार अथवा तत्प्रयोजन-साधक होने से, पात्र कहना प्रारम्भ किया। इस प्रकार होते-होते पात्र शब्द बर्तन के अर्थ में रूढ़ हो गया।

पात्रों से वे लोग पदार्थों को ढाँक दिया करते थे। इससे पात्र शब्द पीछे से ढक्कन आदि आवरणकारक वस्तुओं के लिए भी प्रयुक्त होने लगा। स्वयं संहिता में ('हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितंमुखम्'—'तत्त्वंपूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये') वह ढक्कन के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इन ढक्कनों से ढाँके हुए पदार्थों की रक्षा होती थी। इसी भाव को लेकर पीछे 'पात्र' के दो भिन्न वर्णों को पृथक करके 'पा' और 'त्र' दो धातुओं की कल्पना की गई। ये दोनों ही 'रक्षा' के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं और इनसे कितने ही शब्द संस्कृत-भाषा के निकले हैं।

इसी पत् धातु से 'पतन' शब्द बनता है, जिसका अर्थ गिरना है। इस शब्द के 'त' के स्थान में कहते कहते 'र' हो गया और फिर कालान्तर में 'रकार' का स्वर भी दूर हो गया। इस प्रकार 'पतन' से 'पर्ण' शब्द बन गया और उसका वाच्य 'पत्ता' ठहरा, क्योंकि पत्ता सूखने या टूटने पर वृक्ष से गिरता है। पीछे 'पर्ण' शब्द ऊपर से गिरने के भाववाले पदार्थों के अर्थ में आया और सूर्य की किरणों को लोगों ने, ऊपर से नीचे अथवा आकाश से पृथिवी पर आते देख, 'सुपर्ण' कहना प्रारम्भ किया। केवल भले लगने

*पत्, पथ्, पद्, पट् इत्यादि इसी के अनुकरण और समानार्थक हैं।

अथवा लाभदायक होने के कारण, उसके लिए प्रयुक्त 'पर्ण' शब्द के आगे 'सु' उपसर्ग बढ़ा दिया। वेदों में 'सुपर्ण' शब्द सूर्य की किरणों के लिए प्रायः आया है। निघण्टु में कश्यप प्रजापति ने 'सुपर्ण' शब्द का पाठ 'रश्मिनाम' में किया है। लोगों ने चिड़ियों को ऊपर से नीचे उतरते देख उनको भी 'सुपर्ण' कहना प्रारम्भ किया। बहुत पीछे 'सुपर्ण' शब्द का अर्थ उड़ने वाला हो गया और 'पर्ण' * उड़ने के अर्थ में काम आने लगा। सुपर्ण को लोगों ने आकाश में नित्य पक्षी के समान पूर्व से पश्चिम को उड़ जाते देखा और उसे भी सुपर्ण कहना प्रारंभ किया। वेदों में कई जगह 'सुपर्ण' शब्द का प्रयोग सूर्य आदि के अर्थ में हुआ है।

चिड़ियों के उड़ने में प्रधान साधन उनके पर हैं। परों का आकार भी पत्तों का सा होता है। इसीलिए परों को भी पर्ण कहने की प्रथा चली। पत्ते पतझड़ के समय झड़ जाते हैं और पर भी कुरेज पर गिरते हैं। पतझड़ के पीछे फिर नये पत्ते निकलते हैं और थोड़े दिनों में कुल पेड़ पत्तों से ढक जाता है और कुरेज के बाद चिड़ियों का सारा बदन भी परों से ढक जाता है। इस तरह 'पर्ण' पीछे से एक स्वतन्त्र धातु बन गया और उसका व्यवहार आच्छादन करने के अर्थ में हो गया।

पत्ता या कोई दूसरी चीज जब ऊपर से गिरती है तब वह एक पदार्थ से पृथक होकर दूसरे पदार्थ को प्राप्त होती है। इन दोनों भावों को लेकर 'पत्' से वर्ण-विकार द्वारा दो और धातु पद् और पट् की उत्पत्ति हुई, जिनमें पहले का अर्थ प्राप्त होना और दूसरे का अर्थ पृथक् होना है। ये दोनों धातु वास्तव में 'पत्' के रूपान्तर हैं।

इसी पत्* धातु से वर्णविकार और वर्णविपर्यय द्वारा पठ् और तप् दो और धातुओं की उत्पत्ति हुई, जिनमें पठ् का अर्थ पढ़ना और तप् का अर्थ गर्म होना है। आकाश से मेंह आदि के गिरने में पट-पट या पठ-पठ का तुमुल शब्द होता है। इसलिए पठ् धातु पहले शब्द करने के अर्थ में आया; पीछे पढ़ने और पुनः-पुनः वाक्योच्चारण के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। सूर्य की किरण के साथ ही साथ गर्मी भी सूर्य से पृथिवी पर आती है। अतएव उसके लिए विपर्यय द्वारा पात की जगह ताप शब्द व्यवहृत होने लगा। फिर पीछे† 'तप्' का प्रयोग गर्मी पहुँचाने के अर्थ में भी होने लगा। इसी प्रकार 'पत्' से 'पथ्' धातु भी विकार द्वारा बना जो गति आदि अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। इसी पथ् धातु से 'पथ' शब्द भी बना है, जिसका अर्थ राह है, क्योंकि राह ही पर चल कर लोग एक स्थान से दूसरे स्थान को प्राप्त होते हैं।

इसी प्रकार 'पत्' धातु से पत्, पथ्, पद्, पट्, पठ्, आदि के सदृश अनुकरण-रूप और भी कितने ही धातुओं और शब्दों की सृष्टि कालान्तर और अवस्थान्तर में हुई है।

*इसी 'पर्ण' से फारसी भाषा का परीदन (پریدن) धातु निकला है जिस का अर्थ उड़ना है और जिससे फारसी में परिन्दा, परदा आदि शब्द निकले हैं। स्वयं 'पत्' धातु के भी उड़ने के अर्थ में प्रयोग होने का पता 'पताका' शब्द से चलता है।

*इसी 'पत्' से फारसी का फितादन (فتادن) भी निकला है, जिसका अर्थ गिरना है।

†सूर्य की गरमी को जगत् में व्याप्त देख तप् के त् का लोप कर अप शब्द बना, जिसका अर्थ व्याप्त होना है। अप् से वप् उत्पन्न हुआ है, क्योंकि बोने के समय बीज को खेत भर में पहुँचाना पड़ता है।

१९१२

❀ ❀ ❀

वाटरलू की संग्राम-भूमि

पं० प्यारेलाल मिश्र, बैरिस्टर-एट ला

ब्रसल्स (Brussels) की प्रदर्शिनी देखकर हम यूरोप का कुरुक्षेत्र वाटरलू (Waterloo) देखने गये। ब्रसल्स नगर का हाल हम किसी और समय सुनावेंगे। आज केवल वाटरलू के विषय में कुछ लिखा चाहते हैं। इतिहास पढ़नेवालों को इस महाभारत से खूब परिचय होगा। इसलिए हम संग्राम पर कुछ नहीं लिखना चाहते।

इतना कहना काफी होगा कि यह घोर संग्राम अँगरेज, प्रशियन्स बैलजियन्स और फरासीसियों के बीच १८ जून सन् १८१५ ई० को हुआ था। संयुक्त सेनाओं के जनरल वैलिंगटन और फरासीसी सेना के नायक प्रसिद्ध नपोलियन थे। नपोलियन इस युद्ध में परास्त हुए और घबराहट और निराशा के कारण रणभूमि छोड़ भाग गये। इस महायुद्ध ने नपोलियन की कमर तोड़ दी, नहीं तो आज सारा यूरोप नपोलियन ही के चंगुल में रहता। फरासीसी सैनिक-संख्या कोई पौन लाख थी। तोपों की संख्या अनुमान ढाई सौ थी। संयुक्त सैनिक-संख्या सत्तर सहस्र के लगभग थी और तोपें करीब १६० के थीं। इस विषम युद्ध में बहुत जीव-नाश हुआ। खून के नाले बह गये। नपोलियन के सेना के करीब ४० हजार आदमी खेत रहे। संयुक्त सेना ने अनुमान पच्चीस सहस्र मनुष्यों से हाथ धोये।

वाटरलू पाँच हजार की बस्ती का छोटा सा गाँव है। बैलजियम (Belgium) की राजधानी ब्रसल्स से यह १० मील की दूरी पर है। वाटरलू को ब्रसल्स से ही जाते हैं। जाने के दो रास्ते हैं—एक पक्की सड़क द्वारा, दूसरा रेल द्वारा। सड़क से जाने में और भी कई मनोहर स्थान देखने में आते हैं। हमें इतना समय न था; इससे हम रेल द्वारा ही गये। रेल से केवल आधे घंटे का रास्ता है। युद्ध-भूमि पहुँचने के पूर्व वाटरलू गाँव मिलता है। कई मुसाफिर इसी जगह उतर पड़ते हैं। पर उनकी यह भूल है। कारण यह कि इस गाँव से संग्राम-भूमि तीन मील से अधिक फासले पर है। युद्धस्थल के आस-पास उस समय वाटरलू के सिवा और कोई गाँव न होने से उसका नाम वाटरलू रक्खा गया था। वाटरलू में तब थोड़े से झोंपड़े थे। वैलिंगटन का मुकाम इसी गाँव में था। वाटरलू के आस-पास की धरती रेतीली है। कहीं-कहीं काली धरती भी है। बीच बीच में छोटे छोटे टीले, गढ़े और खाइयाँ हैं। वृक्ष भी बहुत हैं। अब इस मैदान में खेती होती है। खेती बहुधा घोड़ों द्वारा होती है। पर यहाँ हमने हलों में गायें भी जुती देखीं। हम यह लिखने को भूल गये कि ब्रसल्स नगर के स्टेशनों पर वाटरलू ले जाने और दिखानेवाले लोग मुसाफिरों को मक्खियों की तरह घेरते हैं। गाड़ी वाले कहते हैं, चलिये हम आपको सस्ते किराये पर आराम के साथ ले चलते हैं। उधर संग्राम-भूमि दिखलाने वाले भी बहुत लम्बी चौड़ी बातें मारते हैं। पर मुसाफिरों को इनके जाल में एकदम न फँसना चाहिए। उन्हें पहले शहर का चक्कर लगाकर वाटरलू सम्बन्धी पुस्तकें खरीदनी चाहिए, जो कि स्टेशन से निकलते ही किसी भी पुस्तक बेचने वाले के पास दस बारह आने में मिल सकती है। होटल वाले भी, यदि मुसाफिर होटलों में ठहरें तो, बहुत कुछ हाल बता सकते हैं। ऐसा करने से मुसाफिर बहुत कुछ खर्च और तकलीफ से बच सकते हैं। पर योरप में घूमने के लिए और नहीं तो फ्रेंच भाषा अवश्य जाननी चाहिए; क्योंकि यह भाषा थोड़ी बहुत सब देशों में समझी जा सकती है। इसके न जानने से लोग बहुत ठगे जाते हैं। इसी तरह मुसाफिरों को जिस देश में सैर करनी है उस देश के सिक्कों को पहले से समझ लेना चाहिए। इस विषय में पुस्तकों या टामस कुक के दफ्तरों से बहुत कुछ सहायता मिल सकती है। बल्कि उनके यहाँ हर एक मुल्क के सिक्के भी मिल सकते हैं। ब्रसल्स स्टेशन पर जब हम वाटरलू के लिए टिकट खरीदने गये तब टिकट बाबू ने हमें ठग लिया। हमसे कुछ पैसे अधिक ले लिए। इतने में वाटरलू ले जाने वाला गाइड हमें देख रहा था। टिकट लेने के बाद उसने हमसे पूछा—आपने टिकट के लिए कितना पैसा दिया है। हमने कहा इतना। तब वह हमारे साथ टिकट बाबू के पास गया और कहा, इनका बाकी पैसा वापस दे दीजिए। बाबू ने तुरन्त पैसा लौटा दिया। हमने गाइड (Guide) को धन्यवाद दिया। मालूम हुआ कि कदाचित् यह आदमी बाहरी लोगों को इसी तरह ठगा करता है।

संग्राम-स्मारक

यह स्मारक लड़ाई होने के सात वर्ष बाद बनाया गया था। यह संयुक्त देशों के द्रव्य से बनाया गया है। इसी स्थान पर प्रिंस आफ आरेञ्ज (Prince of Orange) घायल होकर गिरे थे। ये युवराज संयुक्त फौज के एक अगुआ थे। यह स्मारक मिट्टी का एक ऊँचा गोलाकार टीला सा है। इसके आस-पास हरी घास लगी है। भेड़ और गायें इस पर चरती रहती हैं। उँचाई इस टीले की २०० फुट है। ऊपर जाने की सीढ़ियाँ लगी हैं जो बहुत सकरी और नीची हैं। सीढ़ियाँ करीब सवा दो सौ के हैं। ऊपर चढ़कर देखने से बहुत दूर तक मैदान दिखाई देता है। इस टीले की चोटी पर लोहे का एक शेर रक्खा है, जो

फरासीसी तोपों को तोड़कर बनाया गया है। शेर का वजन २८ टन है और लम्बाई उसकी ६ फुट के लगभग है। उँचाई उसकी १४ फुट है। जिस चबूतरे पर वह रक्खा है उसकी उँचाई २० फुट है। इस चबूतरे के आस पास कठ-सुई है। इस स्मारक के बनाने में तीन लाख फ़्रेंक खर्च हुए थे। एक फ़्रेंक दस आने के बराबर होता है। स्मारक तीन साल में तैयार हुआ था। कहते हैं, टीले को बैलजियम और डच की स्त्रियों ने बनाया है। इस स्मारक से कुछ दूर आस पास स्काच, जरमन और अँगरेजों के स्मारक हैं। ये स्मारक उन अफसरों और सिपाहियों की याद में बने हैं जो इस युद्ध में मारे गये। इन सब स्मारकों को देखने के लिए सिवा फरासीसियों के, दूर दूर के लोग भी आते हैं। शेर का स्मारक फरासीसियों को कांटे सा खटकता है। उसको देखने से उन्हें अपने गौरव-नाश का स्मरण हो आता है। शेर का मुँह फ्रांस की ओर है। वह दाँत निकाले खड़ा है। देखने में भयानक लगता है। फ्रांस वाले उसका मुँह अपने देश की ओर नहीं चाहते। उसे वे अपना अपमान समझते हैं। वह दुश्मनी का चिह्न है। वह संयुक्त सेनाओं का विजयरूपी सिंह है। उसके बनने के बाद फरासीसियों ने उसे तोड़ डालने का अनेक प्रयत्न किया। कहते हैं, एक समय जब फरासीसी सेना अन्टवर्प की लड़ाई को वहाँ से जारही थी तब उसके कुछ सिपाहियों ने ऊपर चढ़कर सिंह की पूँछ तोड़ डाली जो कि पीछे से फिर जोड़ दी गई।

स्मारक के नीचे चार छः घर हैं, जहाँ खाने-पीने का सामान मिलता है। एक मकान में लड़ाई के समय के कुछ टूटे-फूटे अस्त्र, गोलियाँ इत्यादि रक्खी हैं। यह एक छोटा सा अजायबघर है। इस मकान के लोग लड़ाई का भी हाल बताया करते हैं। थोड़ी दूर चलकर एक पुरानी गढ़ी है। इसके सामने का द्वार बहुत चौड़ा है, जो हमारे यहाँ की गढ़ियों के फाटकों से मिलता है। इस गढ़ी के कुछ दूर आगे नालेनुमा खाई है, जो लड़ाई के समय रक्त से बह चली थी। इस खाई से कुछ दूर फरासीसी फौजें खड़ी थीं और इस पार, अर्थात् गढ़ी के सामने, संयुक्त सेनायें थीं। गढ़ी ईंटों से बनी है और इन ईंटों पर फरासीसी सेना की गोलियों के निशान अभी तक दिखाई देते हैं। इस गढ़ी में कुछ किसान रहते हैं। बस सिवा इन चिह्नों के वाटरलू में और कुछ नहीं है। संग्राम-स्मारक बहुत दूर से दिखाई देता है। इसके बिना शायद ही कोई जान सके कि यह प्रसिद्ध स्थान यूरप का कुरुक्षेत्र रहा हो। हमारे साथी एक बूढ़े अंग्रेज थे। इससे हमारा समय अच्छा व्यतीत हुआ। वाटरलू से हम दोनों ब्रसल्स लौटे। देर हो जाने से हम लोग लोकल ट्रेन द्वारा आये। गाड़ी छूटने में चन्द मिनिट रह गये थे। इससे हम दोनों एक तीसरे दरजे के डब्बे में जा घुसे। पर जो अनुभव उस दिन हुआ वह सारी जिन्दगी न भूलेगा। बल्कि यह समझना चाहिए कि हम दोनों कुछ काल के लिए नरक में ठेल दिये गये थे। डब्बे में मैले, गँवार, मनहूस मजदूर भरे थे जो रोज सन्ध्या को काम से अपने-अपने स्थानों को लौटा करते हैं। मैले कुचैले होने के सिवा उन्होंने सारे डब्बे को थूक से गन्दा कर रक्खा था। उस दिन पानी बरसा था। इससे वह डब्बा जूतों के कीचड़ से और भी मैला हो रहा था। सबके सब तम्बाकू पी रहे थे जिसके धुएँ से सम्पूर्ण डब्बा काला हो रहा था। खूब हल्ला हो रहा था। कोई गाते थे। कोई ताश खेल रहे थे। हम लोगों की उन्हें जरा भी परवाह नहीं थी। हम लोग मन ही मन खूब पछताये। खैर जैसे तैसे स्टेशन आया। हम लोग जी बचाकर दूसरे दरजे में जा बैठे। उस दिन हमें मालूम हुआ कि इन बदतमीज, मैले, राक्षसों की अपेक्षा अंग्रेजी मजदूर कई दर्जे साफ और तमीजदार होते हैं। विलायत में हमें उनके साथ रेल में सफर करने का मौका मिला। वे बहुत शान्त होते हैं। दूसरों का अदब करते हैं। गाड़ी में हल्ला गुल्ला नहीं करते।

१९१२

❀ ❀ ❀

ऐतिहासिक बातें

श्री मुंशी देवीप्रसाद

(१)

अकबर बादशाह का खजाना

अकबर बादशाह ने जब आगरे का किला बनवाना शुरू किया था तब उसकी लागत के लिए एक जरीब जमीन पर तीन सेर अनाज कर के तौर पर रैयत पर लगाकर उसकी उघाई करने को न्यारे ही तहसीलदार भेज दिये थे। इस आमदनी से, तीन करोड़ रुपये की लागत में, यह किला पाँच वर्ष तक बराबर काम जारी रहने पर तैयार हुआ था। मुल्ला अब्दुलकादिर बदाऊनी ने अपनी तवारीख में लिखा है कि इसमें इतना रुपया तो लगा, पर यह दुनिया भर के सोने, चाँदी और जवाहरात के लिए एक मजबूत भाँडार बन गया। यह बात ठीक ही थी। इस किले के खजाने से इतना द्रव्य खर्च होता रहा है जिसकी संख्या देखकर आदमी की अक्ल हैरान हो जाती है और कहती है कि अकबर ने कितना असंख्य द्रव्य अपने खजाने में जमा किया था, उसका पीढ़ियों तक अन्त ही न हुआ। जहाँगीर जैसे विलासी बादशाह ने अपने भोगविलास में उसे खूब ही उड़ाया। शाहजहाँ जैसे आडम्बरप्रिय सम्राट ने तख्तेताऊस और ताजमहल जैसे बढ़िया कामों में इसी खजाने का रुपया और रत्न लगाया। औरंगजेब भी दक्षिण की बेफायदा लड़ाइयों में यहीं से सोना और चाँदी मँगा-मँगाकर मिट्टी में मिलाता रहा। शाहेआलम बहादुरशाह जब अपने भाई कामबख्श से लड़ने के लिए दक्षिण को जाता था तब अकाल था और मरी पड़ रही थी। बुरहानपुर में बहुत से आदमी मरी से मर गये। एक कूच ३ कोस का होता था। वहाँ तक एक बीमार के वास्ते ८) रुपया किराया बारबरदारों का था। हर मंजिल में कई-कई हजार कबरें खुदी हुई तैयार रहती थीं। ज्यों ही बादशाही सवारी पैशखाने में दाखिल होती थी त्यों ही मुरदे उन कबरों में गाड़े जाते थे। लशकर में दवाइयों का इतना अकाल था कि एक तोला कासनी एक रुपये में आती थी। माजून और शरबत वगैरह का तो कहना ही क्या था। अनाज भी एक रुपये का ३-४ सेर से ज्यादा नहीं मिलता था। इस पर भी लशकर अकबरी मोहरों से मालामाल था जो आगरे में खजाने से खर्च के वास्ते खिंची चली आती थी और ८) रुपये के भाव से बिकती थी। उनका मोल शाहजहाँ के समय में १४) रुपया था।

जब जहाँदारशाह पर उसका भतीजा फर्रुखसियर पटने से चढ़कर आया तब जहाँदारशाह ने खजाना खोलकर सारा सोना चाँदी अमीरों और सिपाहियों को दे दिया इस पर भी जो कमी हुई तो दौलतखाने की छत का चाँदी सोना उतारा और जवाहरखाने के जवाहरात निकाले।

तवारीख मोहम्मदशाही के कर्त्ता मुन्शी खुशाली राम के बाप जीवनराम ने जवाहरखाने के एक सयाहे* में लिखा देखा था कि एक सप्ताह में साढ़े तीन करोड़ रुपये का जवाहरात खर्च हुआ था। फिर मोहम्मदशाह रंगीले की रंगरलियों में भी रहा सहा खजाना खूब उड़ा। नादिरशाह भी बहुत कुछ लाद ले गया। अहमदशाह के राज्य में पठानों और मरहटों ने भी खूब लूटा। कुछ खुरचन रही थी सो सन् १८५७ के गदर में साफ हो गई।

भला जिस खजाने का धन ३०० वर्ष तक इस बेदरदी के साथ खपा और लुटा उसका कोई क्या लेखा कर सकता है। यह क्या कुछ कम बात थी कि कोहनूर जैसा हीरा, जो आजकल बहुत मशहूर हो रहा है, उस खजाने का एक तुच्छ रत्न था और एक करोड़ रुपये के हीरे, लाल और पन्ने जो तख्तेताऊस में जड़े थे उस खजाने के जवाहरखाने के फालतू जवाहरात थे। इस जवाहरखाने में भीम पाण्डव का एक पटका था जिसमें दुनिया भर के अनमोल और अनोखे जवाहरात टँके हुए थे। और तो क्या पाण्डवों के समय के अलभ्य पदार्थ भी इसमें खिंच आये थे। तवारीख मोहम्मदशाही में, जहाँ एक सप्ताह के भीतर ३॥ करोड़ का जवाहर निकाला जाना लिखा है, इतना और

---

*रोज मर्रे का हिसाब जिसको बनिये रोजाना कहते हैं।

भी लिखा है कि उन जवाहरात में राजा युधिष्ठिर के भाई भीमसेन की कमर का एक जड़ाऊ पटका भी था जो ११ गज लम्बा और ७ गज चौड़ा था।

(२)

जहाँदारशाह की लंका।

औरंगजेब का पोता और शाहेआलम शाह का बेटा जहाँदारशाह अजब अलबेला बादशाह था। एक दिन जो लंका देखने की जी में आई तो जमना पार महाराजा जसवन्त सिंह की हवेली से लगाकर सलाबतखां की हवेली तक ५-६ कोस लम्बी और २ कोस चौड़ी बाँस और लकड़ी की लंका बनवाई। लाखों चिराग उस पर जलवाये। जब तेल नहीं मिला तब घी जलाने का हुक्म दिया। आतिशबाजी भी खूब छोड़ी गई। तेल जो कुछ दिनों पहिले १) रुपया का सात सेर बिकता था डेढ़ सेर बिकने लगा। अनाज भी ७-८ सेर से जियादह नहीं था।*

(३)

जहाँगीर बादशाह की राखी।

यह बादशाह स्वयं अपने रोजनामचे में लिखता है कि "हिन्दुओं के ४ वर्ण ठहराये गये हैं और हर एक निज धर्म पर चलता है। हर एक साल भर में एक दिन अपना त्यौहार मनाता है। पहला ब्राह्मण, अर्थात् ब्रह्मा को जानने वाला। उसके छः धर्म हैं :—

१—विद्या पढ़ना, २—दूसरों को पढ़ाना ३—आग पूजना, ४—दूसरों को पुजाना, ५—दान लेना, ६—दान देना।

इनका त्योहार सावन के अन्त में होता है जो बरसात का दूसरा महीना है। इस दिन को पवित्र समझ कर पुजारी लोग नदियों और तालाबों पर चले जाते हैं और मंत्र पढ़ कर डोरों और रंगे हुए तागों पर फूंकते हैं। दूसरे दिन, जो नये साल† का पहिला दिन होता है, उन डोरों को राजों और बड़े लोगों के हाथों में बाँधते हैं और शकुन समझते हैं। इन डोरों को राखी यानी रक्षा कहते हैं। यह दिन* तीर के महीने में आता है जब सूर्य कर्क राशि पर होता है। दूसरा क्षत्रिय वर्ण है जो क्षत्री भी कहलाते हैं। क्षत्रिय वह है जो अन्याय करनेवालों से दीनों की रक्षा करे। उसके तीन धर्म हैं :—

१—आप पढ़े, दूसरों को न पढ़ावे, २—आप आग पुजे, दूसरों को न पुजवावे, ३—आप दान दे, दूसरे का दान न ले। इसका त्यौहार विजया दशमी है। इस दिन सवारी करना और शत्रु पर चढ़ कर जाना इसको समझ में शुभ होता है। रामचन्द्र ने, जिसको ये लोग पूजते हैं, इसी दिन चढ़ाई करके अपने बैरी को जीता था। इस दिन को ये उत्तम समझते हैं। हाथी घोड़ों को सजा कर पूजते हैं। यह दशहरे का दिन शहरेवर के महीने में आता है, जब सूर्य कन्या राशि पर होता है। हाथी घोड़ों के रक्षकों को इस दिन पारितोषिक मिलता है।

तीसरा वैश्य वर्ण है। यह ऊपर लिखे दोनों वर्णों की सेवा करता है। खेती, लेनदेन, ब्याज बट्टा और सौदागरी इनका कर्त्तव्य है। इनका भी एक त्यौहार है। उसको दीवाली कहते हैं। यह दिन मिहर महीने में आता है, जब सूर्य तुला राशि पर होता है। इस दिन की रात को दीपमाला कहते हैं मित्र और बान्धव एक दूसरे के घर में जुड़ कर जुआ खेलते हैं। इन लोगों का धन्धा ब्याज और लेन देन का है। इस लिए इस दिन हारने-जीतने को ये शकुन जानते हैं।

चौथा शूद्र वर्ण है। यह हिन्दुओं का सबसे नीचा जथा है। यह सबकी सेवा करता है। जो ऊपर के वर्णों के अधिकार हैं उनसे इसको कुछ प्रयोजन नहीं है। इसका त्यौहार होली है जो इसकी समझ में वर्ष का अन्तिम दिन है। यह दिन असफन्दार महीने में आता है, जब सूर्य मीन राशि में होता है। इस दिन की रात को रास्तों और गलियों में आग जलाते हैं। जब दिन निकलता है तब पहर भर तक एक दूसरे पर राख डालते हैं। फिर नहाकर कपड़े पहनते हैं। बागों और जंगलों में विचरने को चले जाते हैं।

हिन्दुओं में मुर्दा जलाने की रीति है। इसलिए इस

---

*यह लेख भी तवारीख मोहम्मदशाही के आधार पर लिखा गया है।

†इस लेख से जाना जाता है कि ढूढार और मेवाड़ की भाँति आगरे में भी उस समय लौकिक संवत्सर भादों वदी १ से बदला जाता था।

*तीर फारसी महीने का नाम है।

रात को आग जलाने से यह अभिप्राय है कि पिछले वर्ष को, जो मरे के समान हो गया है, जलाते हैं।

मेरे पिता के समय में हिन्दू अमीरों और दूसरे लोगों ने ब्राह्मणों की देखा देखी राखी की रीति इतनी फैला दी थी कि रत्नों, मोतियों और जड़ाऊ फूलों को डोरों में पिरो कर उनके हाथ में बाँधा करते थे। कई वर्ष तक ऐसा होता रहा है। जब यह आडम्बर बहुत ही बढ़ गया तो उन्होंने उकता कर बन्द कर दिया। ब्राह्मण अपने डोरों और रेशम के धागों को निज नियमानुसार शकुन के वास्ते बाँधते रहे। मैंने भी इस वर्ष उन्हीं के शिष्टाचरण का अनुकरण करके हुक्म दिया कि हिन्दू अमीर और हिन्दुओं के मुखिया मेरे राखी न बाँधे। परन्तु राखी के दिन, जो *९वीं अमरदाद को था, फिर वही दंगल हुआ। दूसरे लोगों ने यह देखा देखी की बात हठ से नहीं छोड़ी। तब मैंने इसी वर्ष के लिए स्वीकार करके कहा कि ब्राह्मण लोग उसी प्राचीन रीति से डोरे और रेशम बाँधें।"

*अमरदाद को भादो बदी १ थी। इससे भी उस समय भादों बदी को राखी बाँधना सिद्ध होता है।

१९१२

❀ ❀ ❀

अमेरिका का मस्त योगी वाल्ट ह्विटमैन

(Walt Whitman)

श्री सरदार पूर्णसिंह

अमेरिका के लम्बे-लम्बे हरे देवदारों के घने वन में वह कौन फिर रहा है? कभी यहाँ टहलता है कभी वहाँ गाता है।

एक लम्बा, ऊँचा, वृद्ध-युवक, मिट्टी गारे से लिप्त, मोटे वस्त्र का पतलून और कोट पहने, नंगे सिर, नंगे पाँव और नंगे ही दिल अपनी तिनकों की टोपी मस्ती में उछालता, झूमता जा रहा है। मौज आती है तो घास पर लेट जाता है। कभी नाचता, कभी चीखता और कभी भागता है। मार्ग में पशुओं को हरे तृण का भोज उड़ाते देख आनन्द में मग्न हो जाता है। आकाशगामी पक्षियों के उड़ान को देख हर्ष में प्रफुल्लित हो जाता है। जब कभी उसे परोपकार की सूझती है तब वह गोल-गोल श्वेत शिव-शंकरों को उठा-उठाकर नदी की तरंगों पर बरसाता है। आज इस वृक्ष के नीचे विश्राम करता है, कल उसके नीचे बैठता है। जीवन के अरण्य में वह धूप और छाँह की तरह विचरता चला जाता है कभी चलते-चलते अकस्मात् ठहर जाता है, मानो कोई बात याद आ गई। बार बार गर्दन फेर फेर और नेत्र उठा-उठा कर वह सूर्य को ताकता है। सूर्य की सुनहली सोहनी रोशनी पर वह मरता है। समीर की मन्द-मन्द गति के साथ वह नृत्य करता है, मानो सहस्रों वीणायें और सितार उसको पवन के प्रवाह में सुनाई देते हैं। इस प्राकृतिक राग की आँधी के सामने मानुषिक राग, दिनकर के प्रकाश में टिमटिमाती हुई दीप-शिखा के समान तेजोहीन प्रतीत होते हैं। उसके भीतर बाहर कुछ ऐसी असाधारण मधुरता भरी है कि चंचरीक के समूह के समूह उसके साथ-साथ लगे फिरते हैं। उसके हृदय का सहस्रदल ब्रह्म-कमल ऐसा खिला है कि सूर्य और चन्द्र भ्रमरवत् उस विकसित कमल के मधु का स्वाद लेने को जाते हैं। बारी बारी से वे उसमें मस्त होकर बन्द होते हैं और प्रकाश पाकर पुनः बाहर आते हैं।

उस सुन्दर धवलकेशधारी वृद्ध के वेश में कहीं *न्यागरा की दूधधारा तो नहीं फिर रही है? यह मस्त बनदेव कौन है। चलता इस लटक से है मानो यही इस वन का राजा या गन्धर्व है। पत्ता-पत्ता, कली-कली, नली-

*सर्वोत्तम सौन्दर्य पूर्ण दृश्यवाला अमेरिका का एक झरना।

नली, डाली-डाली, तने-तने को यह ऐसी रहस्यपूर्ण दृष्टि से देखता है मानों सब इसी के दिलदार और यार हैं। सामने से वे दो कृषक महिलायें दूध की ठिलियाँ उठाये गाती हुई आती हैं। क्या ही अलौकिक दृश्य है। औरों को तो ये दो अबलायें अस्थि और मांस की पुतलियाँ ही प्रतीत होती हैं, परन्तु हमारे मस्तराम की आश्चर्यभरी आँखों को वे केवल बाँस की पोरियाँ ही दीखती हैं। उसकी निगूढ़ दृष्टि उनसे लड़ी। वे दोनों इस वृद्ध-युवक को आवारा समझ कुछ खफा हुईं, कुछ शरमाईं और कुछ मुसकाईं। उसने उनके मतलब को जान लिया। वह हँसा, खिलखिलाया और सलाम किया। नयनों से कुछ इशारे किये; आँसू बहाये। किसी की प्रशंसा की, कोई याद आया, किसी से हाथ मिलाया और उसे दिल दे दिया। यह दृश्य हमारे मस्त कवि का एक काव्य हुआ।

वे दो खोखले वृक्ष वेश बदलकर और वृद्ध स्त्रियों का रूप बनाकर, सामने नजर आये। वे दोनों वृद्धायें हाथ में हाथ मिलाये कुछ अलापती जा रही हैं। उसने जिन दो पूर्व युवतियों, हुस्न की परियों, विकसित कलियों, को देखकर अपना काव्य-प्रवाह बहाया था उसी पवित्र काव्य-गंगा को वृक्षों के चरणों में भी छोड़ दिया। वह सौन्दर्य का कितना बड़ा पुजारी है। वह हर वस्तु में सुन्दरता ही सुन्दरता देखता है। क्यों नहीं, तत्ववित् है न। उसके अनुभव में आया है कि उसकी एक मात्र प्यारी नाना रूपों में प्रत्यक्ष हुई है। प्रत्येक वस्तु सुन्दर है—क्या बाँस की लम्बी-लम्बी पोरियाँ और क्या वट के खोखले तने। या तो संसार की दृष्टि ही अपूर्ण है, या मेरी ही दृष्टि मदमाती है। उनमें अन्तर अवश्य है जो आँख में अपने ही प्यारे को देखती है वह भला तुम्हारी कला के पैमानों के कारागार में कैसे बन्द हो सकती है। बस सौन्दर्य का सच्चा पुजारी यही है। यह सब को सदा यही सुनाता है—"तुम भले, तुम भले।"

अमेरिका के वन में नहीं, जीवन के अरण्य में यह कौन जा रहा है? यह प्रकृति का बंभोला है कौन? यह वन का शाहदौला है कौन? यह इतना शरीफ अमीर होकर ऐसा रिन्द फकीर है कौन? अमेरिका के वही मूर्ख, तत्वहीन, मशीन-रूपी नरक में यह जीता जागता ब्रह्म-ज्ञानरूपी स्वर्ग कौन है? इसकी उपस्थिति मात्र से मनुष्य की आभ्यन्तरिक अवस्था बदल जाती है। अमेरिका की बहिर्मुख सभ्यता को लात मारकर बिरादरी और बादशाह से बागी हो कर, कालीनों को जलाकर, महलों में आग लगाकर यह कौन जाड़ा मना रहा है? प्रभात की फेरीवाला, जंगल का जोगी, अमेरिका का स्वतन्त्र और मस्त फकीर वाल्ट ह्विटमैन अपनी काव्यरचना करता हुआ जा रहा है।

वह कोमल और ऊँचे, लम्बे और गहरे, स्वरों में एक संदेसा देता जा रहा है। सभ्यता के नगरों से यह जोगी जितनी ही दूर होता जाता है उसका स्वर उतना ही गम्भीर होता जाता है।

वास्तव में मनुष्य स्वतन्त्रताप्रिय है। किसी प्रकार के दासपन को वह नहीं सह सकता। आजकल अमेरिका में लोग अमीरों से तंग आ गये हैं। उनकी हँसी एक प्रकार की मिस्सी है जो किसी को मुख दिखाना हुआ झट मल ली। वहाँ घर और वस्त्रों को कफन और कब्र बनाकर मनुष्य-जीवन का प्रवाह दबाया जाता है। चमकता हुआ कलदार ही इस बाह्य जीवन को स्थित रखने का वहाँ खुदा है। जैसे भारतवासी फोटो उतरवाते समय ओठों और मूँछों के कोण और कोटों के किनारे सँभालते हैं उसी तरह आधुनिक कलदार सभ्यता (Dollar-civilisation) में जीते जागते मनुष्यों को सुन्दर फोटो रूप बनकर अपना जीवन व्यतीत करना पड़ता है। उनके आचरण हृदय-प्रेम की ताल में तुले नहीं होते, वे कृत्रिम होते हैं। वहाँ काव्य के नृसिंह भगवान् ह्विटमैन ने अपने उच्चनाद से हिन्दुओं की ब्रह्मविद्या और ईरान की सूफी विद्या को एक ही साथ घोषित किया है। वाल्ट ह्विटमैन के मत में वह मनुष्य ही क्या जो ब्रह्मनिष्ठ नहीं। वह एक मनुष्य के जीवन में मनुष्य-मात्र का जीवन और मनुष्य-मात्र के जीवन में एक मनुष्य का जीवन देखता है। उसके काव्य का प्रवाह आकाशवत् सार्वभौम है। जैसे आकाश समस्त नक्षत्र आदि को उठाये हुए है उसी तरह उसका काव्य सब चर और अचर, नर और नारी को, चमकते-दमकते तारों की तरह, अपने में लपेटे हुए है। वह सब के मन की कहता है और सब उसको अपने मन की बात बताते हैं। गरीबों को अमीर और अमीरों को गरीब करने वाला कवि यही है। अपने आनन्द की मस्ती में उसे काव्य की तुकबन्दी भी बन्धन प्रतीत होती है। वह प्रत्येक दोहे-चौपाई को पिंगल के नियम की तराजू में नहीं, किन्तु अपने

हृदयानन्द के ताल में तोलता है। जो लोग मिश्र के पिरामिड को उत्तम कला-कौशल का नमूना मानते हैं उनकी सुन्दरता की दृष्टि परदानशीनों की-सी है। प्रकृति के बाह्य अनियमित दृश्य इन परदानशीनों के नियमित दृश्यों से कहीं बढ़-चढ़कर हैं। जो भेद समुद्र की छाती के उभार के प्रेमियों और एक युवती के वक्षस्थल के उभार के प्रेमियों में है वही भेद ह्विटमैन सदृश स्वतन्त्र काव्यप्रेमियों और तुकबन्दी के प्रेमियों में है। बाग बनाना तो मानुषी कला है, और जंगल बनाना दिव्य कला है। चित्र बनाना तो जीतों को मुर्दा बनाना है। और मुर्दा प्रकृति को जीवित संसार बना देना ब्रह्मकला है। और कवि तो केवल चित्र बनाते हैं, परन्तु यह कवि जीते-जागते प्राणियों को अपने काव्य में भरता है। नीचे हम वाल्ट ह्विटमैन की पोयम्स आव् जॉय (Poems of Joy) नामक-कविता के कुछ खण्डों का तरजुमा नमूने के तौर पर देते हैं:—

ओ: कैसे रचूँ आनन्दभरी, रसभरी, दिलभरी कविता।
राग भरी, पुँस्त्वभरी, स्त्रीत्व भरी, बालकत्व भरी,
संसार भरी, अन्न भरी, फल भरी, पुष्प भरी॥१॥

ओ: ! पशुओं की ध्वनि लाऊँ, मछलियों की फुर्ती,
और उनके, तुले हुए तैरते शरीरों को लाऊँ।
चारों ओर हो विशाल समुद्र का जल, खुले समुद्र पर
हों खुले बादबाँ, और चले हमारी नैया॥२॥

ओ: ! आत्मानन्द का दरिया टूटा, पिंजड़े टूटे,
दीवारें टूटीं, घर बह गये और शहर बह गये।
इस एक छोटी पृथ्वी से क्या होता है? लाओ, दे दो सब
नक्षत्र मुझे, सब सूर्य मुझे, और सब काल मुझे॥३॥

... ...

ओ: इस अनादि भौतिक हृदय पीड़ा को—इस प्रेम
दर्द को—दरसाऊँ कैसे अपनी कविता में।
कैसे बहाऊँ उस आत्मगंगा के नीर को;
कैसे बहाऊँ प्रेमाश्रुओं को अपनी कविता में॥४॥

जो पृथ्वी है सो हम हैं; जो तारे हैं सो हम हैं; ओ: हो! कितनी देर हमने उल्लुओं के स्वर्ग में काट दी।

हम शिला हैं, पृथ्वी में धँसे हैं; हम खुले हैं, साथ-साथ पड़े हैं, हम हैं दो समुद्र, जो आन मिले हैं।

पुरुष का शरीर पवित्र है, स्त्री का शरीर पवित्र है, फूलों का शरीर पवित्र है, वायु का शरीर पवित्र है, जल पवित्र है, धरती पवित्र है, आकाश पवित्र है, गोबर और तृण की झोपड़ी पवित्र है, प्रेम पवित्र है, सेवा पवित्र है, अर्पण पवित्र है। लो अब अपने आपको तुम्हारे हवाले करता हूँ। कोई भी हो, तुम सारी दुनिया के सामने मेरे हो रहो।

१९१३

❀ ❀ ❀

शब्द की आकर्षण शक्ति

पण्डित बालकृष्ण भट्ट

यह आकर्षण उस भाँति का नहीं है जिसमें मंत्र-तंत्र की कुछअपेक्षा हो। इसकी अनोखी मोहनी शक्ति कर्ण कुहर में पड़ते ही मन को मुग्ध कर देती है और मन आपे के बाहर हो जाता है। गानविद्या-विशारदों ने नाद को ब्रह्मानन्द का प्रतिनिधि माना है, सो शब्द की इसी प्राकृतिक मिठास के कारण वृन्दावनबिहारी कृष्ण भगवान की वंशी का सुर इसकी साखी दे रहा है जिनके कान में पड़ते ही ब्रजवनिताओं की क्या, वन के पशु-पक्षी भी मुग्ध हो उठते थे, गौवें तृण चरना छोड़ एक ग्र हो ‹ान को उधर ही उटेर लेती थीं। इसकी आकर्षण शक्ति प्रकृति के सौन्दर्य सागर की लहरी है जिसका अनुभव केवल उन्हीं को होता है जो सरस हृदय हैं। जिसका नीरस हृदय केवल बाहरी बाग्जाल में पड़ दार्शनिकों के शुष्क वाद-विवाद में भटका हुआ है वह इसकी मिठास का स्वाद कैसे पा सकता है, वरन इसकी रसज्ञता का पूरा परिचय केवल सहृदय के बाट में आया है, वे ही इसके सौन्दर्य को पहचान सकते हैं और इसकी रसज्ञता के मार्मिक भी वे ही हैं। संस्कृत इस रससन्दोह का भाण्डार है जिसमें कोकिलकण्ठ जयदेव ऐसे कवि-शिरोमणि शब्द की इस आकर्षण शक्ति तथा माधुर्य का उदाहरण हैं। कविकुलगुरु कालिदास भवभूति बाण, दण्डी प्रभृति कवियों ने अपनी-अपनी प्रतिभा के द्वारा इसे रस का एक ऐसा महासागर बना

डाला है कि सरस हृदय आजन्म थहाते रहें पर इसकी थाह नहीं पावें—वैसे भाषा में सूर अपने एक लाख पद के सूरसागर में कविता के रस की एक नई सृष्टि का निर्माण कर आचन्द्रतारक अपनी प्रतिभा का परम उत्कृष्ट उदाहरण छोड़ गये। उपरान्त तुलसी बिहारी भूषण मतिराम आदि कवि-समूह आज इसके भाण्डार को भरते जा रहे हैं। शब्द में क्या मोहनी शक्ति है इसका रस जाननेवालों की सृष्टि ही निराली है और इसके विधाता कवि-वर समूह हैं। अरसिक को इसके रस का बोध होता ही नहीं। इसी से कहा है "अरसिकेषु कवित्व निवेदनं शिरसि मा लिख मा लिख मा लिख।" ऐसी ही बिहारी की भी युक्ति है। "ये गाहक करबीन के तुम लीनी कर वीन" इसका मर्म तब मालूम होता है जब अरसज्ञ की गोष्ठी में कोई रसज्ञ जा फँसता है। काकः कृष्णः पिकः कृष्णः को भेदः पिककाकयोः। बसंतसमयप्राप्ते काकः काकः पिकः पिकः। कौआ भी काला कोइल भी काली तब कौआ और कोइल में क्या अन्तर रहा, किन्तु बसंत के आ जाने पर कौआ काँव काँव करते कौआ ही कहलावेगा और पंचमस्वर में कर्णरसायन के मधुर नाद से आलाप करती कोइल खुल पड़ेगी। इसी को किसी कवि ने एक दूसरे ढंग से दरसाया है "विधिरेव विशेषगर्हणीयः करट त्वं रटकस्तवापराधः। सहकारतरौ चकार यः सह वासः सरलेन कोकिलेन। विधाता ही विशेष निन्दा का पात्र है। करट तू मनमाना काँव-काँव किया कर इसलिए कि रसाल के सौरभ का रसज्ञ सरल कोकिल का सहवास कुटिल करट के साथ तूने कराया। इसी तरह सादी आदि कवियों ने अपनी निर्माणचातुरी दिखा पारसी भाषा की मिठास को कई गुना अधिक कर दिखाया। शब्दों की आकर्षण शक्ति के परिचय के लिए सरल हृदय का होना भी आवश्यक है। रसज्ञता जिन में छू नहीं गई जो वागाडम्बर तर्क वितर्क के जाल में फँसे हुए हृदय के कुटिल हैं, जो रूखे ज्ञान विज्ञान की धूर फाँक रहे हैं, भक्ति भावना का स्वाद जिन्होंने पाया ही नहीं, उन्हें कवियों की कोमल मधुर पदावली का यथ वत पूर्ण परिज्ञान पहिले हो ही गा नहीं, हुआ भी तो उसकी रसज्ञता का अलौकिक आनन्द उनके रोम-रोम में वैसा न व्यापेगा जैसा सरस हृदय एक भावुक में व्यापता है। यहाँ हम इतना और कहा चाहते हैं कि जो भक्ति की भावना से सरस हृदय नहीं हैं वे संसार को ऐसा लाभ नहीं पहुँचा सकते। तार्किक कुटिल हृदयवाले को तो समाज के छिद्र निकालने ही से छुट्टी नहीं मिलती तब समाज के हितचिन्तन का समय उन्हें कहाँ मिल सकता है। समाज तथा देश में उपकार का बड़ा-बड़ा काम बहुधा उन्हीं से हुआ है जो सीधे चित्त के रहे हैं जो आस्तिक्य-भाव से पूर्ण हो भावुकता के अमृत-कुण्ड में सुस्नात और पूतात्मा हैं। नये नये आविष्कार तथा विज्ञान के अनेक तर्क वितर्क और ऊहापोह से प्रकृति के जिस सौन्दर्य को वैज्ञानिकों ने भंग कर डाला उसे उपमा उत्प्रेक्षा अनन्वय आदि अलंकारों के द्वारा कवि मण्डली पुष्ट करती रही और नई नई उक्ति युक्ति से रस संपादन कर प्राकृतिक सौन्दर्य को कविजन बढ़ाते ही गये। गद्य काव्य में चाहे जैसी अदल-बदल की जाय पर पद्यमयी सरस्वती मन को हरनेवाली वही होगी जो पुराने धुँधले समय की है जब मनुष्यों के सरल चित्त में किसी तरह के नूतन आविष्कार ने स्थान नहीं किया था। चन्द्र मण्डल में कालिमा पहाड़ों की है इस नये आविष्कार के आगे यह कालिमा मृग का अंक है ऐसी कवियों की भाँति भाँति की कल्पना काहे को किसी के मन में बैठेगी।

अब तर्क मन में यह उठता है कि शब्दों में इतनी मिठास और आकर्षण शक्ति के रहते भी खड़ी बोली में कविता की मोहनी मूर्ति का दर्शन क्यों नहीं होता? खड़ी बोली के पक्षपाती इसे रसीली बनाने को सब सब यत्न करते हैं पर रस के अम्बोद की पूर्ण वृष्टि एक ओर रही उस अलौकिक रस का कहीं एक छींटा भी नहीं आता। एक बात मन में आती है। बहुत से पढ़नेवाले इसमें सहमत न होंगे, लाचारी है। रूखाई का रूप उर्दू की तुक-बन्दी में जिसकी खड़ी बोली नकल कर रही है उसमें सरसता का वैसा ही अभाव है जैसा मरुभूमि में जल के एक बिन्दु का, तब रस के उद्गार हमारे पुराने कवि सूर तुलसी बिहारी भूषण आदि कवियों की कविता का आनन्द तो दूर रहा। इसी से हम कहते हैं कि पद्यमयी सरस्वती को अछूती ही रखना उचित है।

१९१३

❀ ❀ ❀

दर्शनशास्त्र से लौकिक लाभ

महामहोपाध्याय पं० गंगानाथ झा, एम.ए., डी.लिट.

कुछ दिनों से इस देश में सभी विषयों में मतभेद दिखाई देता है। ऐसा कोई भी विषय नहीं जिसमें नाना प्रकार के मतमतान्तर न हों। परन्तु, प्राचीनकाल में यह बात न थी। जिस समय इस देश में यथार्थ शास्त्राभ्यासी, अनुभवी विद्वान् मौजूद थे उस समय यहाँ इस बात का सदा प्रयत्न होता रहता था कि भेदों की संख्या घटाई जाय। इस विषय का अनुशीलन करते-करते प्राचीन विद्वानों ने यह सिद्धान्त स्थिर किया था कि संसार के सभी भेद-भावों, सभी भिन्न-भिन्न पदार्थों—के अन्तर्गत एक ही शक्ति है; इसलिए सबको 'एक' तथा 'अभिन्न' कह सकते हैं।

शंकराचार्य के समय तक इस देश के निवासियों का करीब-करीब ऐसा ही विश्वास रहा। परन्तु शंकराचार्य ने इस सिद्धान्त को कुछ और भी विस्तृत किया। वे केवल इतना ही मानने पर सन्तुष्ट न हुए कि संसार के सब पदार्थों के अन्तर्गत एक शक्ति है किन्तु उन्होंने इस सिद्धान्त का भी प्रचार किया कि केवल यही 'एक शक्ति' सत्य है और संसार के सब पदार्थ, जो दिखाई देते हैं, मिथ्या हैं। पर लोगों के चित्त में, इस सिद्धान्त के विषय में, शंका उठने लगी। वे कहने लगे—"संसार के सब पदार्थों के अन्तर्गत एक अपूर्व शक्ति है, यह बात तो समझ में आ जाती है और विचार करने पर अनुभव के अनुकूल भी पाई जाती है। पर इस बात पर विश्वास नहीं जमता कि संसार के सब पदार्थ मिथ्या हैं। क्योंकि जब हम आग को छूते हैं तब जल जाते हैं। इसलिए यह कैसे मान लें कि अग्नि आदि सारे पदार्थ मिथ्या हैं।" बस उसी समय से नाना प्रकार के विवादों का अंकुर उत्पन्न हो गया और अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत आदि अनेक मतमतान्तर फैल गये।

आजकल वेदान्त के अनुयायी केवल 'एकत्व' की धुन में मग्न रहते हैं। उन्हें इस बात पर विचार करने की परवा नहीं कि यह 'एकत्व' वास्तव में यथार्थ है या केवल काल्पनिक। इसके सिवा यदि इन एकतावादियों की सांसारिक दशा पर दृष्टि डाली जाय तो पता लगता है कि इनमें एकता के बदले घोर विरोध का अटल राज्य है। इसका कारण पूछने पर ये लोग यह बतलाते हैं कि यह 'एकत्व' केवल पारमार्थिक है, सांसारिक या व्यावहारिक नहीं। अतएव यह केवल पारमार्थिक दशा में ही पाया जा सकता है, सांसारिक या व्यावहारिक दशा में इसके दर्शन नहीं हो सकते। इस कारण को सुनकर—"समाधानन्तु जातं किन्तु परितोषो न जातः"—यह भाव मन में उत्पन्न होता है। युक्तियुक्त उत्तर तो मिल गया, परन्तु चित्त में सन्तोष न हुआ। सच तो यह है कि ऐसे सिद्धान्त ही से क्या लाभ जिसके द्वारा हमारे व्यवहारों में शुद्धता न आवे। पर वास्तव में वेदान्त दर्शन का 'एकत्ववाद' केवल पारमार्थिक ही नहीं, किन्तु व्यावहारिक भी है। इसके द्वारा हम लोग अपने व्यवहारों को सुधार सकते हैं। इन्हीं सुधारे हुए व्यवहारों से हम लोगों का, और सारे संसार का, उपकार हो सकता है।

समस्त संसार के दार्शनिक दो श्रेणियों में विभक्त किये जा सकते हैं। एक तो वे जो संसार का मूल कारण ईश्वर को मानते हैं। दूसरे वे जो या तो ईश्वर आदि किसी चेतन कारण को मानते ही नहीं, या यह कहते हैं कि संसार का कोई कारण है या नहीं, इस बात को मनुष्य की बुद्धि स्थिर नहीं कर सकती। इनमें से जो लोग ईश्वर-कर्तृक सृष्टि मानते हैं उनका मत है कि जितने पदार्थ संसार में हैं उनका अस्तित्व ईश्वर ही के अस्तित्व पर अवलम्बित है। अर्थात् उनका अस्तित्व केवल इसी बात पर है कि उनमें ईश्वर की शक्ति मौजूद है। ईश्वर की शक्ति वास्तव में एक है। बस यही शक्ति वेदान्त-दर्शन की वह 'एक शक्ति' है जो संसार के सब पदार्थों में व्यापक है और जिसे वेदान्ती 'ब्रह्म' कहते हैं। वेदान्त-दर्शन के 'एकत्ववाद' या 'अद्वैतवाद' की जड़ यही है। अद्वैतवाद का इतना अंश तो सभी आस्तिक स्वीकार करते हैं, परन्तु इस "एकशक्ति" या 'ब्रह्म' के सिवा और जितने पदार्थ हैं वे मिथ्या हैं, इस विषय में मतभेद है। पर इन

मतभेदों से यहाँ कुछ मतलब नहीं। यहाँ इतना ही स्मरण रखना आवश्यक है कि संसार के सम्पूर्ण पदार्थों में जो 'शक्ति' व्यापक है वह 'सत्य' है और 'एक' है।

सभी दार्शनिक इस बात को मानते हैं कि संसार में जितने पदार्थ हैं सब में कोई एक साधारण तत्त्व मौजूद है। अर्थात् इस साधारण तत्त्व को भारतवर्ष के दार्शनिक 'सत्' कहते हैं। इसी सत्ता (सत्-ता) के द्वारा पदार्थ का अस्तित्व माना जाता है। जर्मनी के दार्शनिक इसी को 'Being' कहते हैं। वहाँ के दार्शनिकों ने इतने ही से सन्तोष किया। उन्होंने इससे आगे बढ़ने की आवश्यकता ही न समझी। कारण इसका यह था कि उन लोगों को नास्तिकों में अपने दर्शन का प्रचार करना था। अतएव उन लोगों को इसी से सन्तोष हो गया कि सब पदार्थों में एक ऐसा तत्त्व निहित है जिसका निषेध महानास्तिक भी नहीं कर सकता। इन्द्रियों से जो कुछ मैं देखता हूँ उससे अधिक और कुछ भी नहीं है—ऐसा माननेवाले बड़े-बड़े नास्तिक भी इतना अवश्य स्वीकार करेंगे कि "ये चीजें हैं" और इन सब में 'सत्ता' अवश्य है। ये सब चीजें क्षणिक ही क्यों न हों, जब तक इनके विषय में यह कह सकते हैं कि 'ये हैं' तब तक यह भी स्वीकार कर सकते हैं कि इनमें 'सत्-ता' है।

ऊपर जो कुछ हमने लिखा उससे सिद्ध है कि संसार के सब पदार्थों में एक सत्ता है; अतएव इस दृष्टि से वे सब एक हैं। परन्तु इस सत्तामूलक एकता का हम लोगों के आचरणों पर प्रभाव नहीं पड़ सकता। क्योंकि 'सत्ता' की एकता का ख्याल सामान्यतः सांसारिक बातों ही के विषय में हम लोगों के चित्त में उठता है। इससे परलोक सम्बन्धी अनुष्ठानों तथा धर्माचरणों में इस सत्ता-बुद्धि से उतना लाभ हम नहीं उठा सकते जितना कि उठाना चाहिए। हमारे देश के दार्शनिक इस बात को अच्छी तरह जानते थे कि दार्शनिक विचारों का प्रभाव जब तक आचरणों पर नहीं पड़ता तब तक वे व्यर्थ हैं। इससे इन लोगों ने इस सत्ता के विषय में विचार करके यह स्थिर किया कि यह 'सत्ता' चैतन्यमूलक है। साधारण आदमी यह समझते हैं कि चैतन्य केवल मनुष्यों और जानवरों ही में होता है। पर वास्तव में ऐसा नहीं है। जितने पदार्थ इस संसार में हैं सभी में चैतन्य व्याप्त है। इस बात को किसी न किसी ढंग से सभी दार्शनिक मानते हैं। नास्तिक और आस्तिक सभी विज्ञानवादियों का कथन है कि सारे पदार्थों का अस्तित्व विज्ञानरूप से ही है। अर्थात् उनका जितना ज्ञान हम लोगों को होता है उनकी 'सत्यता' या 'अस्तित्व' भी उतना ही है। तात्पर्य यह कि चैतन्य रूप ही से चीजें सत्य कही जा सकती हैं। अब यह विचार उपस्थित होता है कि यह चैतन्य एक है या अनेक। 'चैतन्य' भाववाचक संज्ञा है। इसी से यह अनेक नहीं हो सकता। जितने चेतन पदार्थ हैं सभी में 'चेतनता' गुण एक ही है। उसमें बहुत हो ही नहीं सकता। यह बात जब हम लोगों के मन में अच्छी तरह जम जायगी—जब हम यह समझ लेंगे कि मनुष्यों, पशुओं, पक्षियों, वृक्षों, पत्थरों इत्यादि सभी पदार्थों में एक ही चैतन्य व्याप्त है तब हम लोग अपने सभी कामों में इस बात का विचार रक्खेंगे कि हमारे कामों का असर सब पर क्या पड़ेगा। क्योंकि जब एक ही चैतन्य सब में व्याप्त है तब एक के काम का असर सब के ऊपर पड़े बिना नहीं रह सकता। यह संस्कार मन में दृढ़ हो जाने पर हम लोग कोई भी ऐसा काम न करेंगे जिससे दूसरों को किसी प्रकार का दुःख पहुँचे।

दार्शनिकों के विषय में प्रायः लोगों की राय है कि ये संसार की वास्तविक दशा को नहीं देखते; केवल कल्पनायें किया करते हैं; इनकी बातों पर विश्वास नहीं किया जा सकता। विश्वास के योग्य केवल वैज्ञानिक हैं; क्योंकि उनके विचार गवेषणापूर्ण और कल्पनाशून्य होते हैं पर सच तो यह है कि वैज्ञानिकों की भी गवेषणा और विचार दार्शनिकों ही के मार्ग पर धीरे-धीरे चले आ रहे हैं। रसायन-शास्त्र के बड़े-बड़े अध्यापकों ने अपनी गवेषणाओं से अब इस बात को सिद्ध कर दिया है कि परमाणुवाद रसायन-शास्त्र का चरम सिद्धान्त नहीं। रसायन-शास्त्र का चिरन्तन सिद्धान्त अब सत्य नहीं माना जा सकता। अब तक भी वैज्ञानिकों को इस परमाणुवाद पर पूर्ण विश्वास न था। क्योंकि इसके अनुसार जितने प्रकार के मूल हैं उतने ही प्रकार के परमाणुओं को मानना आवश्यक था। पर अब वैद्युत यंत्रों के द्वारा पदार्थों की परीक्षा करके वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध कर दिया है कि संसार में जितने पदार्थ हैं—स्थूल से स्थूल और सूक्ष्म से सूक्ष्म, पर्वतों से लेकर परमाणुओं तक—सभी एकमात्र विद्युत् के परिणाम हैं। एक-एक परमाणु में अनन्त 'विद्युद्बिन्दु'

(Electron) व्याप्त हैं। अतएव अब विज्ञान शास्त्र का भी यह सिद्धान्त हुआ कि समस्त जगत् का मूलतत्त्व, नाना प्रकार के गुणवाला, परमाणु नहीं है, किन्तु एकमात्र विद्युत् है। अर्थात् जगत् एक ही तत्त्व का परिणाम है। 'विद्युत' क्या है, इसका विचार अभी हो ही रहा है। अब तक लोग इतना ही कह सकते हैं कि यह एक प्रकार की शक्ति है। इस दशा में यह आशा करना अधिक नहीं कि वैज्ञानिक लोग यदि अपने विचारों को इसी तरह सूक्ष्म करते जायँगे तो उन्हें शीघ्र ही इस बात को मानना पड़ेगा कि जिस समस्त-जगद्व्यापक तत्त्व को वे 'विद्युत्' कहते हैं वह और कोई 'शक्ति' नहीं है; वह केवल वही 'चित्' शक्ति है, जिसको भारतवर्ष के ऋषियों ने हजारों बरस से जगत् का मूलतत्त्व मान रक्खा है।

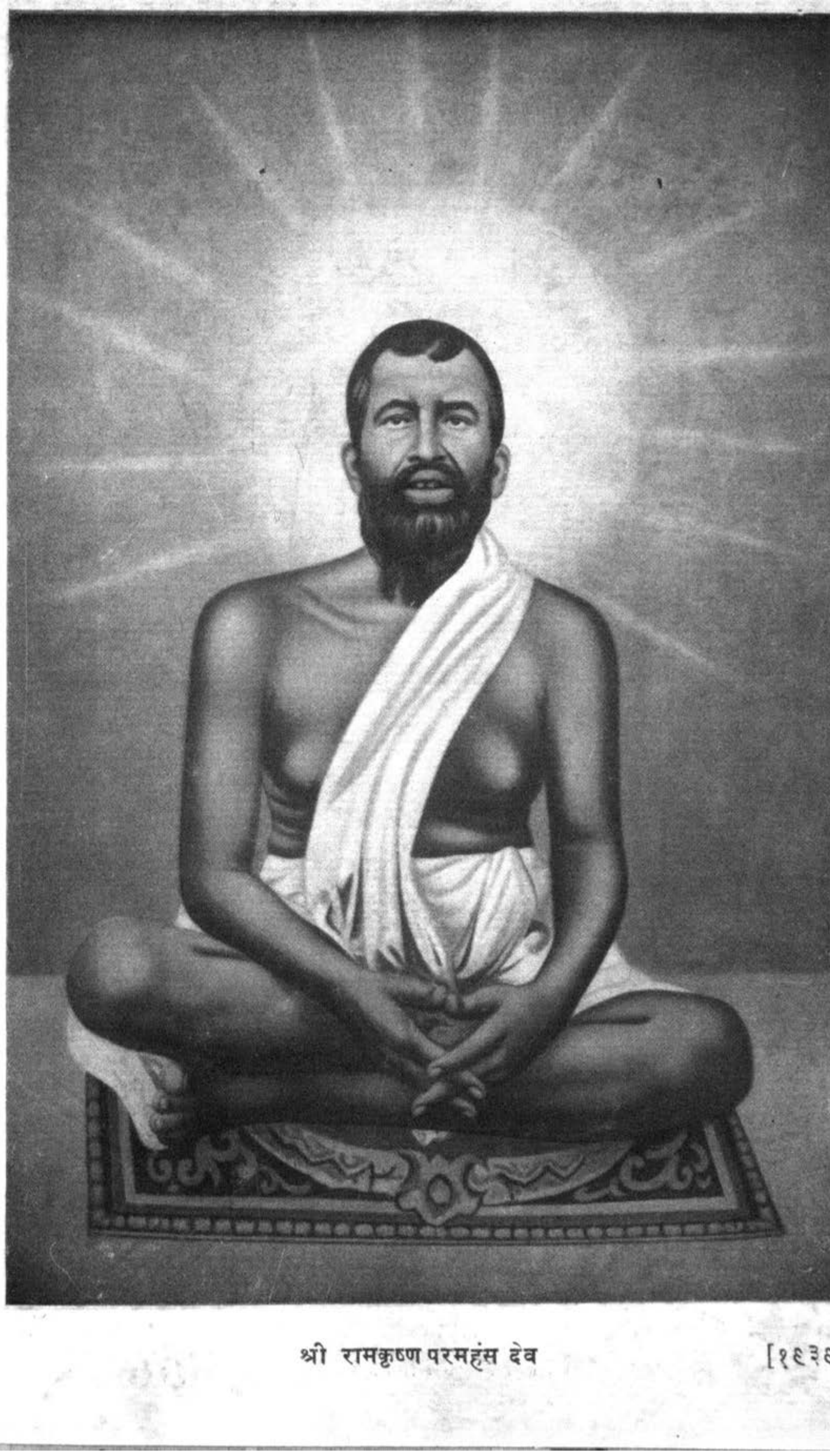
पाठक अब विचार कर सकते हैं कि इसी नित्यादि-विशेषण-विशिष्ट शक्ति को हमारे वेदान्त-शास्त्र ने 'चित्-शक्ति' कहा है।

सारांश यह कि सारे जगत् में एक ही मूलतत्त्व व्याप्त है। इस दार्शनिक सिद्धान्त का पोषण अब विज्ञानशास्त्र के द्वारा भी हो रहा है। बीसवीं शताब्दी के वैज्ञानिक अब उन्हीं वाक्यों को मानने लगे हैं जिनकी घोषणा इस पवित्र भूमि पर अनादिकाल से ऋषियों के द्वारा होती आयी है :—'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति', 'एकमेवा-द्वितीयम्ब्रह्म' इत्यादि।

अब प्रश्न यह है कि यदि चैतन्य सर्वत्र व्याप्त है तो फिर भेद कहाँ से आया। सांसारिक अवस्था में तो भेद अवश्य ही है, इसको सभी मानते भी हैं। सुनिए :—

शास्त्रों में लिखा कि चैतन्य-स्वरूप ब्रह्म ने जो अपने ऊपर उपाधियाँ ली हैं उन्हीं उपाधियों के कारण भेद-भाव उत्पन्न होता है। एक ही चैतन्य अनेक रूप में प्रतिभासित होने लगता है। अनन्त शक्तिमान् ब्रह्म को उपाधियों की आवश्यकता का कारण यह है कि बिना उपाधियों के चैतन्य की अभिव्यक्ति ही नहीं हो सकती। जब तक चैतन्य निरुपाधि और निर्विकार है तब तक अवाङ्मनसगोचर भी है और एक भी है। और, सकलेन्द्रियगम्य और मनोगम्य पदार्थों ही की समष्टि का नाम संसार है। इससे संसार-दशा में अपने को अभिव्यक्त करने के लिए चैतन्य को उपाधियों की आवश्यकता पड़ती है। जैसे जब खनिज धातुओं की उत्पत्ति उपस्थित होती है, अर्थात् जब स्वप्रकाश परम चैतन्य अपने को उन धातुओं के नाम-रूप-द्वारा अभिव्यक्त करना चाहता है, तब वह अपने ऊपर उसी नाम-रूप उपाधि को धारण करता है। जब वृक्ष-रूप में अपने को आविर्भूत करना चाहता है तब वृक्ष-रूप उपाधि से अपने को उपहित करता है। और, जब किसी जन्तु के शरीर में अपने को अभिव्यक्त किया चाहता है तब उस जन्तु का शरीर धारण करता है। कारण इसका यह है कि जिस अवस्था में जिस पदार्थ का प्राधान्य रहता है उस अवस्था में अपने को अभिव्यक्त करने के लिए परमात्मा को उसी पदार्थ की उपाधि अपेक्षित होती है। निराकार और निरुपाधि अभिव्यक्ति सर्वथा असम्भव है। इसी तरह परमार्थतः भेदशून्य होने पर भी चैतन्य, संसार-दशा में, भेदों से आच्छन्न ही प्रतिभासित होता है। जब तक जिस दशा में उसको अपनी अभिव्यक्ति इष्ट है तब तक उसे उसी दशा के अनुकूल नाना उपाधियों से अपने को परिच्छिन्न करना पड़ता है।

चैतन्य को अपनी अभिव्यक्ति क्यों इष्ट है और क्यों आरम्भ होती है, यह प्रश्न उन अतिप्रश्नों में से है जिनका किसी प्रकार का उत्तर असम्भव है। उपनिषदों में कहा है—'तदैच्छत् बहु स्याम्' अर्थात् परब्रह्म को इच्छा हुई कि मैं एक से अनेक हो जाऊँ। यह ब्रह्म का एक से अनेक होना संसार का आरम्भ है। सर्वथा निरीह ब्रह्म को यह इच्छा क्यों हुई, इसका समाधान शास्त्रों में यह लिखा है कि संसार-चक्र अनन्त हैं। सृष्टि-प्रलय, प्रलय-सृष्टि यह चक्र अनादि-अनन्त है। प्रलयानन्तरसृष्टि में जो ब्रह्म की इच्छा कारण होती है उस इच्छा का उद्बोधक आगामी संसार में आनेवाले जीवों का अदृष्ट ही माना गया है। इस संसार में आये हुए जीवों के अदृष्टानुसार, सुख-दुःख-भोग के हेतु, जितने पदार्थ अपेक्षित होंगे उतने पदार्थों का होना आवश्यक है। इससे जिन शरीरों की, जिन इद्रियों की, जिन विषयों की अपेक्षा उक्त भाग के लिए होगी उन शरीरादि के रूप से ब्रह्म की अभिव्यक्ति आवश्यक होती है। इसी प्राकृतिक आवश्यकतानुसार ब्रह्म अपने ऊपर नानात्व और तत्कारिणीभूत उपाधियों को धारण करता है। इसके विरुद्ध कुछ लोगों की यह शंका होती है कि एक बार जब संसारचक्र प्रवृत्त हो गया तब तो उक्त क्रम ठीक चल सकता है। पर जो सृष्टि प्रथम हुई उस समय तो किसी जीव का अदृष्ट न था, फिर ब्रह्म



श्री रामकृष्ण परमहंस देव



शंकरजी

(चित्रकार—कमलाशंकर सिंह) [१६४१

की नानात्व-सम्बन्धिनी इच्छा का उद्बोधक क्या हो सकता था? पर ऐसी शंका करनेवाले यह भूल जाते हैं कि शास्त्रों के अनुसार "प्रथम-सृष्टि" सर्वथा अप्रसिद्ध है। जैसा पहले कह आये हैं, सृष्टि-प्रलय-चक्र अनादि और अनन्त है। शास्त्रों में इसका दृष्टान्त बीजांकुर कहा गया है। जैसे पहले बीज हुआ या अंकुर, इसका निर्धारण नहीं हो सकता उसी तरह पहले जीवों का कर्म्म हुआ या तदनुसार सृष्टि, इसका निश्चय नहीं हो सकता। दोनों की प्रकृति अनादि-अनन्त-चक्रवत् होती है।

१९१३

❀ ❀ ❀

बाणभट्ट की कादम्बरी

वेदतीर्थ नरदेव शास्त्री

रुचिरस्वरवर्णपदा रसभाववती जगन्मनो हरति।
तत्किम्? तरुणी? नहि नहि, वाणी बाणस्य मधुरशीलस्य॥*
(विदग्धमुखमण्डनम्)

जाता शिखण्डिनी प्राक् यथा शिखण्डी तथाऽवगच्छामि।
प्रागल्भ्यमधिकमाप्तुं वाणी बाणो बभूवेति॥†
(गोवर्द्धनाचार्यः)

बाणोच्छिष्टं जगत्सर्वम्––
(लोकप्रसिद्ध उक्ति)

बाणभट्ट की कादम्बरी पर अनेक दृष्टि से विचार हो सकता है। गद्यरूप काव्य लिखने की प्रथा जिन कवि-शिरोमणियों ने पहले पहल चलाई उनमें बाणभट्ट को अग्रस्थान दिया जा सकता है। सबसे पहले हम वाङमय दृष्टि से ही कादम्बरी पर विचार करेंगे।

उच्च काव्य में प्रतिभा की––ऊँची प्रतिभा की––आवश्यकता होती है। जैसे तान के बिना राग, मान के बिना राजा, दान के बिना हाथी अथवा ज्ञान के बिना यति निरुपयोगी अथवा निष्फल सिद्ध होते हैं वैसे ही प्रतिभा के बिना काव्य भी व्यर्थ है––

किं कवेस्तेन काव्येन किं काव्येन धनुष्मतः।
परस्य हृदये लग्नं न घूर्णयति यच्छिरः॥
(त्रिविक्रमः)

ऐसे काव्यों को प्रतिभाशाली कवि––निरुक्त के शब्दों में (कवयः कस्मात् क्रान्तदर्शिनो भवन्ति) 'क्रान्त-दर्शी' कवि ही––लिख सकते हैं। ऊपरी दृष्टि से विचार करने वाले लोग कादम्बरी की उपमायें, स्थल-वर्णन, अतिदीर्घ समासावली, शब्दच्छटायें इत्यादि देखकर ही चकित, विस्मित एवं मुग्ध हो जाते हैं। वे बाणभट्ट को "न भूतो न भविष्यति" कोटि का लेखक समझते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि ये गुण उपकारक और सहायक अवश्य हैं, परन्तु कादम्बरी का महत्त्व इन गुणों की दृष्टि से इतना नहीं है जितना कि प्रतिभा-सम्पन्न काव्य की दृष्टि से है।

उस समय की सांसारिक दशा से संत्रस्त होकर, बाणभट्ट संकल्प मात्र से एकदम हिमालय के उत्तुंग शिखरों पर पहुँचता है और अपनी अप्रतिम प्रतिभा से अच्छोद, जाबालि, महाश्वेता आदि को उत्पन्न करता है। उसी शक्ति से वह एक नूतन सृष्टि उत्पन्न करके उसमें तल्लीन हो जाता है। मानो बाणभट्ट अपनी कृति से

---

* किसी ने किसी से कहा––"अहह! क्या कहूँ, उसका स्वर, उसका वर्ण, उसके पदों का सौन्दर्य एक से एक विचित्र है। उसके विचित्र रस और भावों के कारण तो वह सभी का मन आकर्षित कर लेती है"––यह सुन दूसरा उत्सुक होकर कहता है––"क्यों जी, वह है कौन? क्या कोई युवती है?" इस पर प्रथम मनुष्य हँसकर बोला––"नहीं नहीं, मेरा अभिप्राय कादम्बरी से है।"

विचक्षण पाठक तत्काल समझ लेंगे कि "स्वर-वर्ण-पद-रस-भाव" इन पाँच पदों में श्लेष है।

† महाभारत, उद्योगपर्व, में शिखण्डिनी के शिखण्डी होने का वर्णन है। जिस प्रकार शिखण्डिनी शिखण्डी हुआ उसी प्रकार अधिक प्रगल्भता प्राप्त करने के लिए वाणी ही साक्षात् बाण हो गयी––यह अभिप्राय है।

सांसारिक जनों को उपदेश देता है कि मदमत्त, सम्पत्तिमान्, सत्ताधारी के अधीन रहकर दिन काटने की अपेक्षा अपने मनोराज्य में ही मस्त रहना श्रेयस्कर है। यह संसार --यह धनोपासक संसार--यह प्रकृतिपूजक संसार-- उसी को बड़ा मानता है जिसके पास सत्ता हो, ऐश्वर्य हो। इस प्रकार का संसार हमको न चाहिए--इस प्रकार के संसार में हमारा निर्वाह नहीं हो सकता। जिस प्रकार का संसार हमको अपेक्षित है उस प्रकार का संसार अपने ही बनाने से बनता है--My mind to me a kingdom is। ऐसा समझकर बाणभट्ट अपनी कल्पना-शक्ति द्वारा अपने तथा अन्यों के मनोरंजन के लिए एक विशिष्ट संसार बनाता है। क्रान्तदर्शी कवि के लिए यह साधारण बात है। काव्य देखकर कवि की रुचि का पता लगाना कठिन नहीं है।

बाण जिस समाज का वर्णन करता है वह समाज उच्च कोटि का समाज है। बाण में ऐसे अनेक गुण हैं जो अन्य कवियों में नहीं पाये जाते। रामायण, महाभारत, इलियड आदि किसी भी काव्य को लीजिए, उनमें सत् असत् का कुछ न कुछ पचड़ा है ही। परन्तु कादम्बरी में यह बात नहीं। कादम्बरी में वर्णित पात्र आपस में नहीं झगड़ते; न उनमें दोषारोपण करने योग्य कोई बात ही मिलती है। सब पात्र तत्वज्ञानी प्रतीत होते हैं। कौरव-पाण्डव अथवा राम-रावण के युद्ध के से दृश्य दृष्टिगोचर नहीं होते। भवभूति-निर्दिष्ट उच्चकोटि का युद्ध भी इसमें नहीं है। हाँ, कहीं-कहीं शाप, अभिशाप का प्रसंग अवश्य आया है; पर बाणभट्ट उसका उत्तरदाता नहीं। प्रबोधचन्द्रोदय के सदृश इसमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर इन षड्रिपुओं का विवाद अथवा कलह भी नहीं है। इन्हीं बातों को देखकर कोई-कोई विद्वान् बाण को आदर्शपूजक (Idealistic) कहते हैं। बाणभट्ट ने अपने सभी पात्रों में शम गुण ही का प्राधान्य दिखलाया है। यह एक प्रकार का दोष है, ऐसा भी कुछ लोग समझते हैं। परन्तु इस बात पर सब का ऐकमत्य है कि उसका आदर्श (Ideal) सच्चा था। कादम्बरी में ऊँचे सत्य तत्वों का वर्णन है, यह हमारी विनीत सम्मति है।

उत्तम वाङमय का स्थूल लक्षण यह है कि जिसमें से किसी अंश के निकाल डालने या मिलाने की आवश्यकता न पड़े, मूल में परिवर्तन करते ही उसके स्वास्थ्य में कमी आ जाय। वस्तुतः बाणभट्ट का संविधानक ऐसा ही है। स्थलवर्णनों में वर्णन की मात्रा कुछ बढ़ी हुई अवश्य ज्ञात होती है; कहीं-कहीं विस्तार अनुपयुक्त-सा अवश्य प्रतीत होता है--परन्तु मुख्य संविधानक की सुसम्बद्धता में व्यत्यय नहीं। मूर्छित दशा में पड़ा हुआ भी शुक लम्बा-चौड़ा व्याख्यान देने लगता है, यह देखकर हँसी आये बिना न रहेगी। बाणभट्ट ने अरण्य के दो-तीन वर्णनों में ही समस्त विद्वत्ता समाप्त कर डाली है, ऐसा भी भास हो सकता है। परन्तु इसमें बाणभट्ट का कोई दोष नहीं। यदि कोई उपालम्भ-भाजन है तो उस समय का समाज ही है।

निरंकुश कवियों को भी कभी-कभी लोकरुचि के वशीभूत होकर काम करना पड़ता है। इस प्रकार के उदाहरण बहुधा सभी काव्यों में मिलते हैं। परन्तु उनके परिस्फोट का यह अवसर नहीं। कादम्बरी का प्रतिभाप्रसूत अंश देखना हो तो उसके कृत्रिम वर्णनों को छोड़कर उसके संवाद देखिए। न उनमें श्लेष न विश्लेष, न समास न कृत्रिमता। कैसे सीधे सच्चे मनोहर-भाव-युक्त वस्तु-स्थिति-द्योतक संवाद हैं।

चन्द्रापीड को किये गये उपदेश में लक्ष्मी की भरपेट निन्दा है; परन्तु उस लक्ष्मी से अभिप्राय तात्कालिक विजय का है। धन का नहीं। इसलिए उस दृष्टि से की हुई लक्ष्मी की निन्दा ठीक है। इसी उपदेश में कुटिल राजनीति की भी निन्दा है। चन्द्रापीड ऐसी राजनीति का शिकार न हो जाय, इसी अभिप्राय से यह उपदेश दिया गया है। राजनीतिज्ञ तथा सम्पादक लोग इस उपदेश से बहुत कुछ लाभ उठा सकते हैं। पैसा बुरी चीज है, अतएव वह सर्वथा त्याज्य है--बाण का यह अभिप्राय नहीं। बाण का आशय यह है कि न्यायपूर्वक धनोपार्जन करके उसका सदुपयोग करो; मोह में फँसकर अनर्थ के गर्त में मत गिरो।

महाश्वेता का प्रेम केवल शारीरिक प्रेम नहीं। हमारे देश में प्रेम का आरम्भ तो शरीर ही से होता है, परन्तु उसका पर्यवसान धर्म में ही देखा जाता है। पुण्डरीक की आत्मा के भाव उसके मुख पर झलकते थे। अतएव महाश्वेता का मन उस पर चला गया। महाश्वेता का मन देह पर था, परन्तु उस प्रेम को प्रकट करने के लिए देह साधन मात्र थी। कोई शायद यह कह दे कि यदि यही

बात है तो कई स्थलों पर महाश्वेता ने अपने प्रेम तथा शरीर की इतनी निन्दा क्यों की! इसका उत्तर है कि वह महाश्वेता का केवल विनय था। मनुष्य के साथ आजन्म रहनेवाली अल्पज्ञता सदा ही चिन्ता, संशय, भय, त्रास आदि को उत्पन्न कराती रहती है। महाश्वेता के मन में पुण्डरीक के लिए अत्यन्त आदर था। अतएव उसके मन में चिन्ता उत्पन्न हुई कि यह मुनिकुमार मुझ पर प्रेम करेगा या नहीं। क्रुद्ध होकर मुझे भस्म तो न कर देगा? चतुर पाठक स्वयं ही जान लेंगे कि इसमें कुछ भी अस्वाभाविकता नहीं। यह तो सच्चा चित्र है।

अच्छा अब पुण्डरीक और कपिंजल को लीजिए। ऐसा प्रतीत होता है कि कपिंजल एक स्कूल-मास्टर या खण्डिकोपाध्याय* के सदृश पुण्डरीक की खबर लेना चाहता है, क्योंकि उसकी समझ में उसका मित्र पुण्डरीक मुनिजन-विपरीत कार्य में प्रवृत्त हो गया है अथवा होने लगा है। परन्तु पुण्डरीक के बीमार होने पर कपिंजल उसी काम के लिए महाश्वेता के पास जाता है। यह कैसा अच्छा और स्वाभाविक वर्णन है। मनुष्य-स्वभाव की स्थिति का द्योतक यह कैसा अच्छा चित्रपटल है। कपिंजल ने सोचा था कि "भिक्षां देहि" का व्रत धारण करनेवाले मुनिकुमार को महाश्वेता का मिलना असम्भव है। अतएव प्रेमपाश में फँसकर वह वृथा मरेगा। उसे इस कार्य से परावृत्त करना चाहिए। परन्तु जब उसने देखा कि मुनिकुमार प्राण देने को उद्यत है तब वह महाश्वेता के पास स्वयं ही गया। इस विषय में कपिंजल निरुपाय था। मित्र का बचाना उसका कर्त्तव्य था। जब डाँट-डपट से कार्य न चला तब वह बेचारा और करता ही क्या?

अब चलिए जाबालि की ओर। बुद्धिमान् लोग ईर्षा, द्वेष और मत्सर में डूब गये। राजे-महाराजे अपने ही रंग में दंग हैं; उनको संगति भी उन्हीं जैसे पुरुषों की मिली है। सारा जगत् षड्रिपुओं से त्रस्त है। क्या ऐसी दशा में उपदेश देकर लोगों को सन्मार्ग में प्रवृत्त कराने के लिए निर्मम, निरहंकार, निस्संग, निष्पक्षपात जाबालि जैसे अवतार की आवश्यकता नहीं? जब उपद्रव मचते हैं और क्रान्ति, उत्क्रान्ति, संक्रान्ति से जगत् व्याकुल हो जाता है तब जाबालि ही जैसे पथप्रदर्शकों की आवश्यकता होती है। ऐसे महात्मा को राजनोचित किसी उपकरण की अपेक्षा नहीं होती। वह किसी को धमकाता नहीं; किसी को कोसता नहीं; किसी के साथ छल नहीं करता। वह अपने अलौकिक धर्म तथा तप के प्रभाव से संसार का प्रवाह एकदम पलट देता है। वह अपने तेज से जो काम कर दिखाता है वह संसार के समस्त चक्रवर्ती राजे अपने समस्त उपकरण तथा बल से भी नहीं कर सकते। ठीक ही है—"ब्राह्मबलं बलम्।"

सारांश यह कि प्रतिभा एक ईश्वरदत्त शक्ति है। चिरस्थायी सुखप्राप्ति करने के लिए महात्मा तथा महाकवि अपने सदुपदेशों तथा सत्कल्पनाओं के द्वारा सांसारिक जीवों को सन्मार्ग दिखाते हैं। मनुष्य को शीलवान् बनाने ही के लिए कवि काव्य-निर्माण करते हैं। जिन काव्यों का यह उद्देश नहीं है वे सत्काव्य नहीं। न ऐसे काव्यों के कवि उस उदार दृष्टि से देखने योग्य ही हैं जिस दृष्टि से वे देखे गये हैं या देखे जाते हैं। इस दृष्टि से—उत्तम वाङमय की दृष्टि से—कादम्बरी को कालिदास तथा भवभूति की कृतियों की अपेक्षा भी उच्च स्थान मिलना चाहिए; परन्तु लोगों ने प्रथम स्थान कालिदास को, दूसरा भवभूति को, तीसरा बाणभट्ट को दिया है। कालिदास तथा भवभूति ने पद्यमय काव्य का आश्रय लिया और बाणभट्ट ने गद्यमय काव्य का। यह मार्गभेद ही तो स्थानभेद का कारण नहीं?

"जो लोग हिन्दुओं की उत्कट कल्पकता देखना चाहते हैं, देववाणी के शब्दार्थ रूप अक्षय्य भाण्डार में जो प्रविष्ट होना चाहते हैं—उस वाणी के श्लेषादि विचित्र चमत्कारों का साक्षात् करने के लिए जो समुत्सुक हैं—जो देववाणी की कविता का अत्यन्त उज्ज्वल स्वरूप देखने की इच्छा रखते हैं—उनकी इच्छा-तृप्ति की शक्ति यदि किसी में है तो वह केवल कादम्बरी ही में है। प्राचीन समय की रीति-नीति कैसी थी? यवनों के साम्राज्य के पूर्व इस सुवर्ण-भूमि का वैभव (जिसकी ख्याति उस समय समग्र पृथिवी पर थी) कितना और किस तरह का था? इन बातों का जितना पता कादम्बरी से लगता है उतना शायद किसी अन्य ग्रन्थ से न लगेगा।"

ये उद्‌गार कैलाशवासी विष्णुशास्त्री चिपलूणकर

---

*"य उदात्ते कर्त्तव्ये अनुदात्तं करोति खण्डिकोपाध्यायस्तस्मै चपेटां ददाति"—महाभाष्य।

के हैं और हमारी समझ में बड़े महत्त्व के, अतएव ध्यान देने योग्य हैं।

अँगरेजी के कुछ विद्वानों को कादम्बरी की शैली (स्टाइल) पसन्द नहीं। श्लेष तथा लम्बे-लम्बे समासों से वे बहुत घबराते हैं। विचित्रता तो यह है कि युरोपीय साहित्य की दृष्टि से वे कादम्बरी के महत्त्व और उपयुक्तता आदि का निर्णय करने के लिए बैठ जाते हैं। परन्तु यह उनकी भूल है। जिस देश का जो साहित्य है उसका निर्णय उसी देश के वाङ्मय की दृष्टि से होना चाहिए। जब सभी देशों के आचार-विचार, रीति-नीति आदि में अन्तर पाया जाता है तब साहित्य में अन्तर क्यों न रहे? समासभीरु तथा श्लेषभीरु लोग, जो बाणभट्ट पर दूषण लगाते हैं, यदि अपने इच्छानुसार कोई नवीन कादम्बरी तैयार करें तो अच्छा हो। वे यह नहीं सोचते कि यदि कादम्बरी समास-विरहित और श्लेष-विकल कर दी जाय तो उसका वह उज्ज्वल स्वरूप ही जाता रहेगा। क्योंकि बाणभट्ट की प्रतिभा को उत्कट अथवा उग्र बनाने में समासावली तथा चित्र-विचित्र श्लेषावली ही कारणीभूत है। बाणभट्ट का समय, उस समय की परिस्थिति, कवि की रुचि इत्यादि का विचार किये बिना ही जो लोग बाणभट्ट पर दोषारोषण करते हैं वे मानो अज्ञानवश एक अलौकिक कवि तथा उसके काव्य का उपमर्द करते हैं। विदेशीय विद्वानों का यह अपराध किसी अंश में क्षम्य है, परन्तु जब गतानुगतिक एतद्देशीय भी वैसा ही कहने लगते हैं तब खेद और सन्ताप की सीमा नहीं रहती।

"कादम्बरी की मधुर और प्रौढ़ रचना, उसके श्लेषों की खूबी, उसके प्रसंगोपात्त स्वाभाविक चित्र-विचित्र स्थल-वर्णन, संवादों के ओघ अथवा प्रवाह इत्यादि से उसे जो विलक्षण शोभा प्राप्त हुई है उसका कोई कैसे वर्णन करे और कहाँ तक वर्णन करे। देववाणी स्वभाव ही से गुणवती और मनोहर है। तिस पर भी बाणभट्ट जैसे सच्चे सरस्वती-भक्त और सहृदय कवि का साथ! फिर क्या कहना है! जो जो चमत्कार देखने को मिले सब थोड़ा है। जिन्होंने पद पद पर चकित करनेवाली बाणभट्ट की शक्ति का अनुभव किया है उनमें से कौन सहृदय पाठक ऐसा होगा जो गोवर्द्धनाचार्य्यजी की "वाणी वाणो बभूवेति" इस उक्ति की यथार्थता को समझ कर उनके आगे आदर से सिर न झुकायेगा?"

विष्णुशास्त्री जी के इन शब्दों से ही इस लेख को हम समाप्त करते हैं और आशा करते हैं कि कादम्बरी की इस स्थूल मीमांसा से सरस्वती के पाठकों का थोड़ा-बहुत मनोरंजन हुए बिना न रहेगा।

१९१४

❀ ❀ ❀

उपयोगितावाद

(जान स्टुअर्ट मिल के सिद्धान्त)

श्री (डा०) बेनीप्रसाद (सत्यशोधक)

मनुष्य के आचार का आधार क्या होना चाहिए? और मनुष्य को सदाचारी क्यों होना चाहिए? इन प्रश्नों के उत्तर में तत्वज्ञों ने भिन्न-भिन्न मत प्रकट किये हैं। किसी ने ईश्वराज्ञा, किसी ने मोक्ष, किसी ने स्वर्ग, किसी ने दैवी शक्तियों की प्रसन्नता, किसी ने सांसारिक संपदा और किसी ने स्वयं सदाचार का ही सहारा लिया है। उन्नीसवीं शताब्दी में, योरप में, जो तत्वज्ञानी हुए हैं उनमें से जान लाक, बेन्थम, आगस्ट कौंट, जेम्स मिल, जान स्टुअर्ट मिल, हर्बर्ट स्पेंसर आदि का नाम सबसे अधिक प्रख्यात है। इन विचारशील विद्वानों ने पारलौकिक विचारों को बिलकुल या बहुत कुछ छोड़कर, व्यक्ति या मनुष्य-समाज के अत्यन्त सुख को ही आचार का आधार सिद्ध किया है। जान स्टुअर्ट मिल ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक उपयोगितावाद (Utilitarianism) में बड़ी योग्यता से इस मत का प्रतिपादन किया है। इस लेख में अत्यन्त संक्षेप से इसी पुस्तक का सारांश देने की कोशिश की जायगी। यह पुस्तक पाँच अध्यायों में विभक्त है।

प्रथम अध्याय—प्रारम्भिक बातें

हजारों वर्ष से तत्वज्ञों और विद्वानों में आचार के मूलाधार के विषय में घोर विवाद होता रहा है। पर अभी तक कोई निर्णय नहीं हुआ। सब कामों का कुछ न कुछ उद्देश होता ही है। इस उद्देश को ठीक-ठीक और साफ-साफ समझ लेना आवश्यक है। यह समझ लेना परमावश्यक है कि भले या बुरे का, सदाचार या दुराचार का, निर्णय किस व्यापक तत्व से–किस मान-दण्ड से–होना चाहिए।

यह कहने से काम नहीं चल सकता कि मनुष्य के हृदय में एक ऐसी अन्तरिन्द्रिय है–सदसद्विवेक बुद्धि है–जो तुरन्त ही भले बुरे का ज्ञान करा देती है और बुरे से हटाकर भले की ओर प्रेरणा करती है। पहले तो ऐसी शक्ति का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं हुआ है; फिर यदि, उसका अस्तित्व मान भी लिया जाय तो वह कुछ ही व्यापक तत्वों का ज्ञान करा सकती है। वह यह नहीं बतलाती कि व्यवहार में कौन तत्व किस स्थान पर कार्यकर है। प्रकृति-बुद्धि-वादी (Intuitionists) और अनुभव-वादी (Experimentalists), दोनों ही, मानते हैं कि सदाचार के कुछ मूल सिद्धान्त होने चाहिए। पर दोनों में से एक भी उन सिद्धान्तों को बताने का प्रयत्न नहीं करता। इस स्थिति से मनुष्य-जाति की बड़ी हानि हुई है। हाँ, सभी तत्वज्ञों और नीतिज्ञों ने उपयोगितावाद अथवा महत्तम-सुख-वाद को थोड़ा बहुत माना ही है। अपने सिद्धान्त स्थिर करते समय सभी ने इस बात पर ध्यान रक्खा है कि मनुष्यों के सुख पर उनका क्या प्रभाव पड़ेगा। इस प्रकार सदाचार के मूल तत्वों में एक तत्व उपयोगिता या सुख मान लिया गया है। सच पूछिए तो यही उपयोगिता या महत्तम-सुख-वाद सदाचार का एक मात्र आधार—एक मात्र मूल तत्व होना चाहिए। मैं इस सिद्धान्त को ठीक-ठीक समझाने और सिद्ध करने का प्रयत्न करूँगा और उन झूठे आक्षेपों का उत्तर भी दूंगा जो बहुधा किये जाते हैं।

द्वितीय अध्याय—उपयोगिता का अर्थ

जीवन का उद्देश सुख-प्राप्ति और दुःख-निवारण है। पर सुख क्या है? पशुओं को अपनी भूख-प्यास आदि की निवृत्ति करने और आकस्मिक आपत्तियों से बचने ही से उतना सुख मिल जाता है जितना उन्हें मिल सकता है। पर मनुष्य की सहायक शारीरिक ही नहीं किन्तु मानसिक और सामाजिक शक्तियाँ या वृत्तियाँ भी हैं। उसके सुख के लिए यह तो आवश्यक है ही कि भूख-प्यास आदि की निवृत्ति हो, पर यह भी आवश्यक है कि वह पढ़े-लिखे, विचार करे, और विवेचना आदि भी करे। अर्थात् वह अपनी मानसिक वृत्तियों को चरितार्थ करे और दूसरों से प्रेम तथा सहानुभूति रक्खे, दूसरों की भलाई करे, दूसरों के लिए स्वार्थ-त्याग करे। वह अपने सामाजिक भावों और वृत्तियों को यथेष्ट काम में लावे। जिनको तीनों प्रकार के—शरीर, मन और समाज से सम्बन्ध रखने वाले—सुखों का अनुभव हो चुका है वे बतलाते हैं कि अन्तिम प्रकार का सुख सबसे अधिक श्रेष्ठ है; वह परमानन्दमय है। मानसिक सुख उससे तो कम है; पर शारीरिक सुख से अधिक श्रेष्ठ और आनन्ददायक है। रहा शारीरिक सुख, सो उसका महत्व सबसे कम है। यह भी मानी हुई बात है कि मानसिक और सामाजिक सुख शारीरिक सुख की अपेक्षा अधिक चिरस्थायी है। वह बहुत थोड़े द्रव्य से या बिना द्रव्य के ही प्राप्त हो सकता है। अतएव जब हम कहते हैं कि जीवन का उद्देश सुख है तब हमारा मतलब व्यसनों से नहीं, किन्तु इसी उच्च कक्षा के सुख से है। दुःख का प्रधान कारण स्वार्थपरता है। सदा अपना ही ख्याल करते रहना, दूसरों के सुख-दुख से निरपेक्ष रहना, व्यक्तिगत या सार्वजनिक सहानुभूति न रखना, यही स्वार्थपरता है। दुःख का दूसरा बड़ा कारण मानसिक शून्यता है। प्रकृति, कला-कौशल, कविता, इतिहास, मनुष्य-समाज आदि से सम्बन्ध रखने वाली बातों में मन न लगाना मानसिक शून्यता है। दुःख का तीसरा कारण निर्धनता, रोग, मृत्यु आदि है।

उपयोगिता-वादियों का कहना है कि शिक्षा और सामाजिक सुधार से दुःख के कारण दूर हो सकते हैं। प्रत्येक मनुष्य में सार्वजनिक सहानुभूति होनी चाहिए और उसे सार्वजनिक कार्य करना चाहिए। प्रत्येक मनुष्य को इतना ज्ञान और इतनी ज्ञान-पिपासा होनी चाहिए कि वह अपने चारों ओर की वस्तुओं के अवलोकन, अध्ययन और विचार से आनन्द प्राप्त कर सके। सामाजिक सद्बुद्धि से निर्धनता दूर हो सकती है। शारीरिक और नैतिक शिक्षा तथा वैज्ञानिक प्रयोग से रोग दूर हो सकते हैं। सामाजिक सुधार और साधारण शिक्षा से और बातें

दूर हो सकती हैं। यह कहना घोर अज्ञान और बुद्धि-हीनता है कि संसार में सच्चा सुख मिल ही नहीं सकता।

तथापि यह सदा याद रखना चाहिए कि उपयोगिता-वाद का मूल मन्त्र व्यक्तिविषयक सुख नहीं है, किन्तु समग्र-मनुष्य-जाति-विषयक सुख है। यदि व्यक्ति-विशेष और समस्त जाति के सुख एक दूसरे के विरोधी हों तो क्या किया जाय? उत्तर यह है कि जहाँ तक हो सके सामाजिक बन्धन और सम्बन्ध ऐसे हों कि व्यक्ति और जाति-समुदाय के सुख या हित में विरोध के लिए जगह ही न रहे। शिक्षा और लोक-मत की प्रेरणा से प्रत्येक स्त्री-पुरुष के हृदय में यह बात अच्छी तरह खचित हो जानी चाहिए कि तुम्हारा सुख जाति के सुख से बँधा हुआ है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है दूसरों के लिए स्वार्थ का त्याग करना उपयोगिता-वाद का प्रधान अंग है।

लोग कहते हैं कि जीवन का उद्देश कोई ऐसी बात होनी चाहिए जो सुख से भी अधिक श्रेष्ठ हो, जैसे स्वार्थ-त्याग आदि। पर ऐसा स्वार्थ-त्याग, जिससे समाज को कुछ भी लाभ न पहुँचे--जैसे यतियों या तपस्वियों का त्याग--कोई चीज नहीं; वह केवल मूर्खता है। जिस त्याग से मनुष्य-समाज का लाभ हो जैसे--धर्म या देश के लिए मरने वालों का त्याग--वह अवश्य प्रशंसनीय है और उपयोगिता-वादी उसका यथेष्ट आदर करते हैं। इसी सिद्धान्त के अनुसार उपयोगिता-वाद उन सब सात्विक गुणों को ऊँचा स्थान देता है जो व्यक्ति को समाज-सेवा के योग्य या इच्छुक बनाते हैं, जो समाज-द्रोह से अलग रखते हैं, जो चरित्र को उच्च करते हैं। इस पर यह आक्षेप किया जा सकता है कि हर मौके पर यह निर्णय करना कठिन है कि यह काम मनुष्य-जाति के लिए लाभदायक है या नहीं। उत्तर में हम कहते हैं कि हर समय आपको यह निर्णय करने की आवश्यकता ही नहीं। हजारों वर्ष के अनुभव से मनुष्य-समुदाय ने हिताहित-विषयक जो सिद्धान्त स्थिर कर लिए हैं वे हमारे यथेष्ट पथ-प्रदर्शक हो सकते हैं। जिन लोगों के कार्यों का प्रभाव सारे समाज के अधिकांश पर पड़ता है उन्हींको सदा सारे समाज के सुख-दुःख का विचार करने की आवश्यकता है। औरों के लिए केवल उन्हीं लोगों का विचार करना चाहिए जिनसे उनका सरोकार है। हाँ, यह देख लेना चाहिए कि हमारे कार्य से, या दूसरों के द्वारा हमारे कार्य के अनुकरण से, समाज को हानि न पहुँचे। इस बात को न भूल-कर यदि और उद्देशों से भी काम किया जाय, तो भी कुछ हानि नहीं।

यह भी आक्षेप किया जाता है कि उपयोगिता-वाद मनुष्यों को शुष्क-हृदय कर देता है, उनके नैतिक भावों को मन्द कर देता है और उनके ध्यान को सदैव कार्यों के फलाफल ही की ओर खींच ले जाता है। यदि इस आक्षेप का यह तात्पर्य है कि कार्यों के भले बुरे परिणाम का निर्णय करते समय, उपयोगिता-वादी, कार्य-कर्त्ता के गुणों या या अवगुणों ही के कारण, किसी कार्य को अच्छा या बुरा नहीं कहता तो इसमें हानि ही कौन होती है? परन्तु बात यह है कि उपयोगिता-वाद अन्य गुणों का निरादर नहीं करता। यदि इस आक्षेप का तात्पर्य यह है कि कुछ ही उपयोगिता-वादी ऐसे हैं सब नहीं, तो यह बात हमें भी स्वीकार है। हृदय की उमंगों और नैतिक भावों का यथोचित पोषण न करने से वे वैसे हो गये हैं, उपयोगिता-वाद के कारण नहीं।

बहुतों का ख्याल है कि उपयोगिता-वाद नास्तिक मत है। यदि यह सब सच है कि परमेश्वर की इच्छा यही है कि मनुष्यों का कल्याण हो, तो वह मत, जो सबको मनुष्य जाति का कल्याण करने की आज्ञा देता है, कदापि नास्तिक नहीं कहा जा सकता। सच तो यह है कि उपयोगिता-वाद स्वीकार करके भी मनुष्य पूरा आस्तिक हो सकता है।

तृतीय अध्याय--उपयोगिता-वाद का मूलाधार

उपयोगिता-विषयक आचार-पद्धति का मूल-मन्त्र समाज के सुख की वृद्धि करना है। अच्छा, तो हर व्यक्ति को क्यों इस सम्बन्ध का कर्त्तव्य-पालन करना चाहिए? किस शक्ति के आधार पर यह आदेश दिया जाता है? मैं क्यों दूसरों का सुख बढ़ाता फिरूँ? समाज के सुख की कुछ भी परवाह न करके मैं अपना ही स्वार्थ-साधन क्यों न करूँ? इन प्रश्नों के उत्तर में कहा जा सकता है कि और आचार-पद्धतियाँ जिन शक्तियों का सहारा लेती हैं वे लगभग सभी उपयोगिता की भित्ति पर आश्रित हैं।

अनेक मनुष्य यश के लिए, परमेश्वर या मनुष्यों के डर से, प्रेम से, या किसी के कृपा-पात्र होने की इच्छा से सदाचारी होते हैं। उपयोगिता-वाद को इन सभी कारणों का आधार प्राप्त है। ये तो हुए बाहरी आधार। अब भीतरी आधारों की ओर दृष्टि दीजिए।

हमारे मन में कर्त्तव्य-पालन का भाव बहुत प्रबल है। यह नैतिक भाव नितान्त स्वाभाविक है, अर्थात् यह प्रकृति या परमेश्वर का दिया हुआ है। अतएव यह भाव दूसरों के सुख को बढ़ाने और दुःख को दूर करने की अवश्य ही प्रेरणा करेगा। इसी से इसे उपयोगितात्मक आचार का आधार-स्तम्भ समझना चाहिए। यदि यह भाव अनुभव-जन्य है तो भी बहुत सी अन्य बातों की तरह–जैसे बोलना, विचार करना, जोतना, बोना इत्यादि–यह भी स्वाभाविक सा हो गया है। शिक्षा और लोक-मत आदि के प्रभाव से यह भाव विशेष विकसित और उन्नत हो सकता है। इस प्रकार यह सदाचार का आधार बन सकता है। पर यदि यह भाव स्वार्थ-त्याग की ओर झुकाया जा सकता है तो क्या दुराचार और स्वार्थ-साधन की ओर नहीं झुकाया जा सकता? शोक से कहना पड़ता है कि यह इस ओर भी झुकाया जा सकता है और हजारों दफे झुकाया जा चुका है। तो फिर यह सदाचार का आधार-स्तम्भ कैसे हो सकता है?

यहाँ पर हमें कुछ ऐसे प्रबल स्वाभाविक भावों से सहायता मिलती है जो सभ्यता के प्रसार के साथ ही साथ और भी प्रबल और स्वाभाविक हो सकते हैं। मेरा मतलब मनुष्य-जाति के सामाजिक भावों से है। अपने सजातीयों में अपने को मिला देने की––एक रूप हो जाने की––प्रबल इच्छा हमारे स्वभाव का अंग हो गई है। हमारे लिए समाज में रहना अत्यन्त आवश्यक और स्वाभाविक है और समाज का स्थिर रहना उसके सारे अंगों के हित-साधन पर अवलम्बित है। अतएव सब के हिताहित का विचार करना धीरे-धीरे हमारी प्रकृति का अंग सा होता जाता है। कुछ लोगों के साथ समानता का बर्ताव करने और कुछ के साथ मिल कर काम करने––अतएव अपने और उनके स्वार्थ को एक रूप कर देने––से यह सामाजिक भाव बढ़ता ही जाता है। हमारी यह इच्छा और कोशिश सदा ही रहती है कि दूसरे हमारे हित का विरोध करना ही न छोड़ दें, किन्तु हमारे सुख को बढ़ाने का भी यत्न करें। समाज की भी यही कोशिश रहती है कि सब लोग एक दूसरे का ख्याल रक्खें। जैसे जैसे सामाजिक असमानतायें दूर होती जायँगी, सहयोगात्मक कार्य बढ़ते जायँगे और शिक्षा, लोकमत तथा सामाजिक संस्थायें उचित मार्ग पर आती जायँगी, तैसे ही तैसे दूसरों की भलाई करने की इच्छा हमारे हृदय में बढ़ती जायगी। बस, यही उपयोगितात्मक आचार का आधार है। अब भी विचारशील और सहानुभूतिशील मनुष्यों में यह भाव बहुत प्रबल है। अब भी ऐसे मनुष्य बहुत ही कम है जिनमें यह भाव बिलकुल नहीं पाया जाता।

चतुर्थ अध्याय––उपयोगिता-तत्त्व का प्रमाण

उपयोगिता-वाद का परम-साध्य सुख-प्राप्ति ही है। उसी की चाह सर्वप्रधान है। और चीजें केवल इसलिए चाहने योग्य हैं कि उनसे सुख की वृद्धि होती है। इस बात की पुष्टि में कुछ कहने की आवश्यकता है। कोई चीज देखी या सुनी जा सकती है। इस बात का प्रमाण यही है कि वह चीज देखी या सुनी जाती है। कोई चीज चाही जा सकती है, इस बात का भी प्रमाण यही है कि वह चाही जाती है। केवल सुख ही चाहा जाता है। अतएव सुख ही चाहा जा सकता है। जब और किसी चीज की इच्छा ही नहीं हो सकती तब मानना पड़ेगा कि सुख ही इच्छा करने योग्य है। अच्छा तो क्या लोग कर्त्तव्यपालन और धर्म-निर्वाह आदि की इच्छा नहीं कर सकते अथवा क्या इनकी इच्छा न करनी चाहिए? इनकी इच्छा की जा सकती है और की जानी चाहिए, पर वास्तव में ये सब सुख-प्राप्ति के साधनमात्र हैं––ये सुख-प्राप्ति के ही अंग हो गये हैं।

लोग इसलिए रुपया पैदा करते हैं कि उससे उनकी आवश्यकतायें पूरी होती हैं––उनको सुख मिलता है। पर कभी-कभी रुपया पैदा करने की ऐसी आदत पड़ जाती है कि आवश्यकताओं से भी अधिक, आवश्यकताओं के दूर हो जाने पर भी, लोग रुपया कमाते रहते हैं। ऐसी दशा में रुपया सुख-प्राप्ति का मार्ग नहीं रहता, किन्तु रुपया कमाना या एकत्र करना स्वयं सुख हो जाता है; सुख का अंग हो जाता है। यश या शक्ति का भी यही हाल है। इसी प्रकार सद्गुण या धर्म भी सुख के साधन हैं। पर बहुधा गुणवान् और धर्मात्मा के लिए वे स्वयं सुख हो जाते हैं––सुख के अंग हो जाते हैं। दोनों दृष्टान्तों में भेद इतना ही है कि धनवान्, यशस्वी या प्रभावशाली मनुष्य से कभी-कभी दूसरों का अहित हो जाता है; पर गुणवान् या धर्मात्मा से अहित नहीं होता, हित ही होता है। अतएव गुण-प्राप्ति की लालसा अवश्य करनी चाहिए। यह प्रमाणित हो चुका है कि मनुष्य या तो

सुख की ही इच्छा करता है या उन चीजों की जो सुख के साधन है। सुख की ही इच्छा की जा सकती है और सुख ही इच्छा के योग्य है। सुख की वृद्धि करना ही कर्म का उद्देश होना चाहिए।

पञ्चम अध्याय--उपयोगिता और न्याय का सम्बन्ध

न्याय का आधार दो बातें हैं। एक तो आचार का नियम, जिसका पालन व्यक्तिगत और सामाजिक हित की दृष्टि से सबके लिए आवश्यक है। दूसरे वह भाव जिसकी भित्ति पर यह नियम स्थित है। वह भाव यह है कि जो कोई मुझे हानि पहुँचावे या मेरे उन स्वत्वों का हरण करे, जिनकी रक्षा करना मेरा ही नहीं किन्तु समाज का भी कर्त्तव्य है, उसको दण्ड दिया जाय। जिनसे मैं सहानुभूति रखता हूँ--और प्रत्येक सभ्य और शिक्षित मनुष्य सम्पूर्ण मनुष्य-जाति से या उसके अधिकांश से सहानुभूति रखता है--उनकी रक्षा भी इसी प्रकार होनी चाहिए।

न्याय का उपयोगिता से विरोध नहीं। वह तो उपयोगिता का ही आवश्यक अंग है। न्याय का भाव मनुष्यों में बहुत प्रबल है। अतएव इससे उपयोगिता-तत्व को बहुत सहायता मिल सकती है।

उपसंहार

मिल के सदृश अत्यन्त प्रसिद्ध तत्वज्ञ की अत्यन्त विचार-पूर्ण पुस्तक का यह अत्यन्त संक्षिप्त सारांश है। यूरप में इसके पक्ष और विपक्ष मे ढेरों पुस्तकें और लेख निकल चुके हैं। हर्बर्ट स्पेंसर ने विकाससिद्धान्त के आधार पर इस मत का स्पष्टीकरण अनेक युक्तियों से किया है। यूरप के अधिकांश शिक्षित-समाज ने उपयोगितावाद को स्वीकार कर लिया है।

१९१४

❀ ❀ ❀

जैन-शाकटायन-व्याकरण कब बना!

श्री मुनि जिन विजय

उपलभ्यमान शाकटायन-व्याकरण के कर्ता शाकटायन मुनि के काल और कर्तृत्व विषय में इतिहासज्ञ विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। कुछ लोग कहते हैं कि इस व्याकरण के कर्ता वही शकटसूनु शाकटायन मुनि हैं जिनका स्मरण पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी के--"लङः शाकटायनस्य ३।४।१११। व्योर्लघु प्रयत्नतरः शाकटायनस्य ।८।३।१८। त्रिप्रभृतिषु शाकटायनस्य ।८।४।५०।"--इन सूत्रों में किया है। अतः ये शाकटायन मुनि पाणिनि मुनि से प्राचीन हैं।

कुछ विद्वानों का मत है कि ये शाकटायनाचार्य्य वे नहीं जिनका मत पाणिनि-व्याकरण में उल्लिखित हुआ है। पाणिनि के उल्लिखित शाकटायनाचार्य्य वैदिक मतावलम्बी थे और ये जैन धर्मावलम्बी। इनकी स्थिति राजा अमोघवर्ष (प्रथम) के समय में थी।

इस पिछले मतवाले विद्वानों के कथन की पुष्टि में हमें एक और पुष्ट प्रमाण उपलब्ध हुआ है जो इतिहास-प्रेमी जनों के लिए यहाँ उधृत किया जाता है।

श्वेताम्बर जैन-सम्प्रदाय में, विक्रम की तेरहवीं शताब्दी के अन्त में, मलयगिरि-सूरि नाम के एक प्रखर विद्वान् हो गये हैं। उन्होंने अनेक आगम और प्राकरणिक ग्रन्थों पर विस्तृत और तत्त्वपूर्ण गहन व्याख्यायें लिखी हैं। धर्म, न्याय, व्याकरण, साहित्य और ज्योतिष आदि अनेक विषयों पर उन्होंने बहुत कुछ लिखा है। उनके लेखों के अवलोकन से मालूम होता है कि उन्होंने व्याकरण-शास्त्र-सम्बन्धी उपलभ्य शाकटायन-व्याकरण ही पढ़ा था। क्योंकि उन्होंने अपने लेखों में अनेक जगह इस व्याकरण का उल्लेख किया है। यही नहीं, किन्तु शाकटायन की प्रणाली के अनुसार उनका बनाया हुआ "मलयगिरि-

शब्दानुशासन" नामक एक नया व्याकरण भी विद्यमान है। उन्होंने "नन्दीसूत्र" नामक जैनागम की टीका में एक जगह शाकटायन मुनि का स्मरण किया है और लिखा है—

"शाकटायनोऽपि यापनीययतिग्रामाग्रणीः स्वोपज्ञ-शब्दानुशासनवृत्तावादौ भगवतः स्तुतिमेवमाह।" (नन्दी-सूत्र, पृष्ठ २३, कलकत्ता)।

इस वाक्य में शाकटायन मुनि के लिए जो "यापनीय-यतिग्रामाग्रणी"—विशेषण दिया गया है वह विचारणीय है। इस विशेषण से प्रस्तुत शाकटायन के कर्ता कब हुए, इस बात का निश्चय हो सकता है। इस यापनीययति-ग्रामाग्रणी—विशेषण का अर्थ होता है—"यापनीय संघ के मुनियों के नेता—आचार्य्य"। अर्थात् शाकटायन मुनि यापनीय नामक संघ के अग्रसर आचार्य्य थे। अब यह देखना चाहिए कि यह यापनीय संघ कौन था और कब हुआ? दिगम्बर-जैन-सम्प्रदाय में, पूर्वकाल में, मूलसंघ, काष्ठासंघ, नन्दीसंघ, सेनसंघ, द्राविडगच्छ और केकिपिच्छ आदि अनेक संघ-सम्प्रदाय प्रचलित थे। उन्हीं में यापनीय संघ भी एक सम्प्रदाय था। उसकी उत्पत्ति विक्रम की छठी शताब्दी के बाद हुई थी। देवसेनाचार्य्य नामक दिगम्बर जैन विद्वान् ने, विक्रम संवत् ९९० के लगभग, "दर्शनसार" नाम की एक पुस्तक लिखी। उसमें लिखा है कि "राजा विक्रम की मृत्यु के ५२६ वर्ष बाद, मथुरा में, द्राविडसंघ की उत्पत्ति हुई"* । इन्द्रनन्दी आचार्य्य अपने बनाये हुए 'नीतिसार नामक ग्रन्थ में, लिखते हैं, कि "द्राविडसंघ के पीछे यापनीयसंघ उत्पन्न हुआ है"†

*पंचसए छव्वीसे विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स।
दक्खिणमहुरा जादो दाविडसंघो महामोहो॥

†कियत्यपि ततोऽतीते काले श्वेताम्बरोऽभवत् (?)
द्राविडो, यापनीयश्च, केकिसंघश्च नामतः॥

इन दोनों ग्रन्थों के उल्लेखों से निश्चित है कि विक्रम की छठी शताब्दी के बाद किसी समय यापनीयसंघ में शाकटा-यन नामक आचार्य्य हुए, जिन्होंने प्रस्तुत व्याकरण की रचना की। इससे जो विद्वान् शाकटायनाचार्य का समय, प्रथम-अमोघवर्ष के राज्यकाल में, निश्चित करते हैं वे ठीक कहते हैं। उनका मत विश्वसनीय प्रतीत होता है।

दूसरी बात यह भी है कि यदि ये शाकटायनाचार्य्य पाणिनि से भी पूर्ववर्ती होते तो इनको सभी जैन-श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सम्प्रदायवाले—अपना पूज्य समझते। क्योंकि उस समय जैन समाज में श्वेताम्बर-दिगम्बर का मतभेद उत्पन्न न हुआ था। यह भेद विक्रम की दूसरी शताब्दी में—श्वेताम्बरों के कथनानुसार विक्रम-संवत् १३९ और दिगम्बरों के मन्तव्यानुसार संवत् १३६ में—उत्पन्न हुआ। अतः यदि ये शाकटायनाचार्य्य इस मत-भेद-काल से पूर्व हुए होते तो, उक्त दोनों समाजों में इनका एक-सा आदर होता, जैसाकि "तत्त्वार्थ सूत्र" के कर्ता भगवान् उमास्वाति का है। शाकटायन-व्याकरण का प्रचार और सत्कार दिगम्बर-सम्प्रदाय में ही विशेषकर है; श्वेताम्बर में नहीं। इसके ऊपर जितने टीका-टिप्पण हुए हैं वे सब दिगम्बर-विद्वानों ही के किये हुए हैं—"तत्त्वार्थ सूत्र" के सदृश दोनों सम्प्रदायवालों के किये हुए नहीं। अतः इससे भी निश्चित है कि ये शाकटायनाचार्य्य जैन-समाज में मतभेद होने के बाद,—विक्रम की दूसरी शताब्दी के अनन्तर—किसी समय दिगम्बर-सम्प्रदाय में हुए हैं। इस कथन की पुष्टि में मलयगिरि-सूरि का पूर्व-लिखित "यापनीययतिग्रामाग्रणी" विशेषण विशेष-रूप से प्रमाण-भूत है।

१९१५

❀ ❀ ❀

पण्डित विहारीलाल चौबे

श्री बदरीनारायण उपाध्याय

पण्डित बिहारीलाल चौबे का नाम विहार-प्रान्त में हिन्दी की सेवा के लिए बहुत प्रसिद्ध है। आपकी लिखी हुई कितनी ही पुस्तकों का वहाँ बड़ा आदर हुआ है। उन्होंने अपनी अवस्था का अधिकांश भाग विहार में ही व्यतीत किया। तथापि संयुक्त प्रान्त ही के नहीं, अन्यान्य प्रान्तों के भी हिन्दी-प्रेमी अपरिचित नहीं।

पण्डित बिहारीलाल का जन्म संवत् १९०५ में, काशी से १० कोस दूर मथुरापुर गाँव में हुआ था। यह गाँव जौनपुर जिले में है। आपके पिता का नाम रक्षपाल चौबे था। आप सरयूपारीण ब्राह्मण थे। आप का घराना जौनपुर जिले में विद्या के लिए प्रसिद्ध है। पण्डित विहारीलाल के पिता अधिक धनवान् न थे। इस कारण इनकी शिक्षा बचपन से ही किसी पाठशाला में न हो सकी। बचपन में इनके पिता इन्हें व्याकरण और काव्य पढ़ाते रहे। कुछ बड़े होने पर विहारीलाल दो दो चार चार कोस दूर के पण्डितों से संस्कृत का अध्ययन करने लगे। बचपन से ही बुद्धि तीव्र थी। अतएव इनके अध्यापक इन पर बहुत प्रसन्न रहा करते थे। घर पर रहने से इनके चचा इनसे गृहस्थी का बहुत कुछ काम काज लेते थे इस कारण इनके पढ़ने में विघ्न पड़ता था। पर ज्यों त्यों करके इन्होंने अपनी उम्र के १३ वर्ष वहाँ व्यतीत कर दिये।

एक दिन इनके चचा ने इन्हें किसी कारण खूब मारा पीटा। इससे इन्हें बड़ा दुःख हुआ और ये भागकर काशी चले गये। काशी में इनका ननिहाल था। वहीं अपने मामा के घर रहकर ये विद्याध्ययन करने लगे।

काशी में ये वहाँ के गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेज में भरती हो गये। अँगरेजी की वर्णमाला सीखकर और संस्कृत का कुछ और अभ्यास करके एक ही साल में इन्होंने परीक्षा दी। परीक्षा में ये उत्तीर्ण हो गये और कालेज से इन्हें ४) मासिक छात्रवृत्ति मिलने लगी। इसके अतिरिक्त कभी-कभी आपको अपने पिता से भी कुछ सहायता मिल जाती थी। अतएव आप अब बेफिक्र होकर पढ़ने लिखने में लग गये।

दूसरे वर्ष आप परीक्षा में फिर भी योग्यता पूर्वक उत्तीर्ण हुए। इस बार आपको कुछ इनाम और ८) मासिक छात्रवृत्ति मिली। अपनी श्रेणी में सर्वदा प्रथम रहने के कारण आपको और भी कई बार कई तरह के पारितोषिक आदि मिले।

काशी में जब आप विद्याध्ययन कर रहे थे तभी आपकी माता का देहान्त हो गया। इस कारण पढ़ना छोड़-कर आप घर चले गये। वहाँ जाने पर आपका विवाह हुआ। कुछ दिनों बाद आप सस्त्रीक बनारस लौट आये। अब आपकी गृहस्थी का खर्च बढ़ गया। इसी समय पश्चिमोत्तर देश के शिक्षा-विभाग से आज्ञा निकली कि संस्कृत कालेज के कुछ योग्य विद्यार्थी अन्य भाषाओं की अच्छी-अच्छी पुस्तकों का अनुवाद हिन्दी में करें। इससे पाठशालाओं में पढ़ाने योग्य कुछ पुस्तकें तैयार हो जायँगी। पण्डित विहारीलाल भी इस कार्य के योग्य समझे गये। अतएव १०) मासिक वेतन पर ये कालेज में अनुवाद का काम करने लगे। पर इतनी ही आमदनी से घर का खर्च चलाना कठिन था। इस कारण आप काशी में ही दो एक लोगों को पढ़ाने भी लगे। इससे आपका खर्च अच्छी तरह चलने लगा।

बनारस के संस्कृत कालेज के अध्यापक ग्रिफिथ साहब तथा अन्य अध्यापकों के हस्ताक्षरों से युक्त जो सर्टिफिकेट आपको मिला उसकी नकल नीचे दी जाती है--।

यमनपुरमण्डलान्तर्गतमथुरापुरनिवासिपण्डितरक्षपाल चतुर्वेदिनः पुत्रो विहारीलाल चतुर्वेदी स्वगृहे सारस्वतामरकोशंलघुकौमुदीञ्चाधीत्य त्रिषष्ट्याधिकाष्टादशशततमे ख्रीष्टाब्दे वाराणसीस्थराजकीयविद्यालयेऽध्येतुम्प्रविष्टो व्याकरणे सिद्धान्तकौमुदीं काव्ये षट् काव्यानि नाटके शाकुन्तलमुत्तररामचरितं विक्रमोर्वशीं मुद्राराक्षसं प्रसन्नराघवं साहित्ये कुवलयानन्दं साहित्यदर्पणं न्याये तर्कसंग्रहं भाषापरिच्छेदं सिद्धान्तमुक्तावलीं धर्मशास्त्रे मनुस्मृतिं मिताक्षरां साङ्ख्ये तत्वकौमुदींचाध्यैष्ट। तदन्तर्गतांगलसंस्कृताध्ययन विभागेचान्तिमवर्गपुस्तकान्यारभ्य प्रथमवर्ग नियतपुस्तकान्यप्यधीतवान् मणिते च व्यक्तगणितं

बीजगणितं भागहरणपर्यन्तं रेखागणितस्याध्याय-द्वयमपाठीत्। एतद्विभागे च षड्वर्षाण्युत्त मं छात्रतावेतनं पुस्तकादिरूपाण्यनेकानि पारितोषिकाणि च लब्धवान्। अस्य हिन्दी भाषाज्ञानमतिसमीचीनमनेन तद्भाषानिबद्ध-रामायणादिग्रन्थाः सम्यक् पाठयितुं शक्याः। स एष सदा-चारेण नियतोपस्थित्याऽध्ययनानुवृत्या च गुरून् समतोषयत्। सम्प्रत्ययं तत्तच्छास्त्रीयतत्तद्ग्रन्थाध्यापनादिपण्डित-कार्यकरणक्षमो जात इत्यस्मै सत्कुलोत्पन्नाय सुशीलाय मेधाविने च पाठशालीयैः पण्डितवर्य्यैः साहेबाद्यैश्चैतत् प्रशंसापत्रं वितीर्णमिति शम्।

ता० २२ अपरेल १८७२ ई०

बापूदेव शास्त्री वामनाचार्य पं० बेचनराम त्रिपाठी
राजाराम शास्त्री गयादत्त शर्म्मा पं० शीतलप्रसाद त्रिपाठी
बाल शास्त्री कालीप्रसाद शर्म्मा पं० कैलाशनाथ शर्म्मा
बस्तीराम शर्म्मा, देवकृष्ण शर्म्मा
रामचन्द्र शास्त्री राममिश्र शर्म्मा

R Griffith, Principal
Sanskrit College, Benares

इससे सिद्ध है कि पण्डित विहारीलाल जी संस्कृत के उत्तम पण्डित थे और अँगरेजी में भी उनकी अच्छी गति थी।

विहार के स्कूलों के इन्सपेक्टर डाक्टर फौलन एक अँगरेजी-हिन्दी कोष बना रहे थे। उसके संशोधन का काम उन्होंने बनारस आकर पण्डित विहारीलाल को ही सौंपा। पण्डित विहारीलाल ने इस कार्य को बड़ी योग्यता से पूरा किया। इस पर डाक्टर साहब ने आपको खासी सहायता दी।

जब ग्रूज साहब मथुरा में कलेक्टर थे और तुलसीकृत रामायण का अनुवाद अँगरेजी में कर रहे थे तब उन्होंने उसका अर्थ समझने में पत्र द्वारा पण्डित जी से बहुत सहायता ली।

पण्डित विहारीलाल को बचपन से ही हिन्दी लिखने का बड़ा अनुराग था। विद्यार्थिदशा में ही सदादर्श, हरिश्चन्द्रचन्द्रिका और कविवचन सुधा आदि पत्रों में आप लिखा करते थे। बाबू हरिश्चन्द्रजी के आप मित्र थे। उक्त बाबू साहब हरिश्चन्द्रचन्द्रिका में चौबे जी को अपना सहकारी लिखते थे।

बनारस कालेज में अनुवादक रहने के समय ही पण्डित विहारीलाल ने अँगरेजी के प्रसिद्ध कवि शेक्सपीयर के नाटकों की कहानियों (Lamb's Tales) और दण्डी के दशकुमारचरित का हिन्दी में भाषान्तर कर डाला था।

विज्ञान विषयक पुस्तकों का भी आप हिन्दी में अनुवाद करना चाहते थे। रसायनविषयक एक अँगरेजी पुस्तक का हिन्दी अनुवाद आपने लाहौर के गवर्नमेन्ट कालेज को भेजा था। वहाँ उसकी बड़ी प्रशंसा हुई। इस अनुवाद का कुछ अंश अलीगढ़ की भाषा-वर्द्धिनी सभा के पत्र में छप भी चुका है।

डाक्टर मॉनियर विलियम्स संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे। वे विलायत के आक्सफर्ड विश्वविद्यालय में संस्कृत के प्रोफेसर थे। जब प्रिंस आव वेल्स (राजेश्वर एडवर्ड) के साथ वे भारत में आये तब बनारस में उनसे पण्डित विहारीलाल से भेंट हो गई। पण्डित विहारीलाल पर वे बड़े प्रसन्न हुए। वे इन्हें और इनके मित्र पण्डित राम-मिश्र शास्त्री को विलायत ले जाने का बड़ा आग्रह करने लगे। वहाँ वे पूर्वीय भाषाओं की शिक्षा के लिए पाठशाला खोलना चाहते थे। पर साहब के बहुत आग्रह करने पर भी ये विलायत न गये। अन्त में साहब ने इन्हें एक बड़ा अच्छा सर्टिफिकेट दिया और हमेशा इनसे पत्र-व्यवहार जारी रक्खा। इसी प्रकार और भी कितने ही बड़े-बड़े अँगरेज विद्वानों की कृपा विहारीलाल जी पर थी।

कुछ समय तक बनारस में काम करने के बाद चौबे जी की इच्छा कोई अच्छी नौकरी कर लेने की हुई। आपने राँची के नार्मल स्कूल से लिखा पढ़ी की। वहाँ द्वितीय अध्यापक की जगह खाली थी। आपको ५० रुपया मासिक पर वह जगह मिल गयी और सन् १८७६ के अगस्त से आप उक्त पद पर काम करने लगे।

तब से ५ वर्ष तक आप राँची में रहे। इस बीच में आपने कई ग्रन्थ लिखे और उन्हें प्रकाशित कराया।

राँची से पण्डित जी ने अपनी बदली पटने को करवा ली। पटने में आप पटना कालीजियट स्कूल के अध्यापक हुए। वहाँ आपका वेतन १०० रुपया मासिक हो गया। वहाँ कोई १६ वर्ष तक आप रहे। इसके बाद आप की बदली पटने के नार्मल स्कूल को १२५ रुपया मासिक वेतन पर हुई। वहाँ से कुछ दिनों बाद आप सिटी स्कूल में बदल गये और वहीं से आपने पेंशन ले ली।

जब से आपने पेंशन ली तब से आप काशी में रहने लगे। काशी पर आपका बड़ा अनुराग था। वहीं गत फाल्गुन में शिवरात्रि के दिन आप का देहान्त हो गया। आपके एक सुयोग्य पुत्र, दो विधवा लड़कियाँ और कई पौत्र पौत्रियाँ हैं। आपके पुत्र विहार प्रान्त के शिक्षा विभाग में अध्यापक हैं।

पण्डित विहारी लाल जी की अधिकांश पुस्तकें स्कूलों में पढ़ाये जाने के लिए ही लिखी गयी थीं। उनके नाम ये हैं :—

१—भाषाबोध, २—पत्रबोध, ३—विहारि-तुलसि-भूषण, ४—वर्णनाबोध, ५—पदवाक्यबोध, ६—प्रबोध, ७—बालोपहार, ८—चालचलनबोध, ९—दशावतार, १०—तुलसी सतसई की टीका, ११—बंगभाषा की 'सीता' का अनुवाद, १२—Lamb's Tales का अनुवाद १३—दशकुमारचरित का अनुवाद, १४—शिक्षा-प्रणाली, १५—वेंकट-विहारि-तुलसि-भूषण-बोध।

इनके सिवा और भी कुछ लेख और पुस्तकें आपकी लिखी हुई हैं, जो अप्रकाशित हैं :—

आपकी पुस्तकों में नम्बर ३ पुस्तक बड़े महत्व की है। उसमें चौबे जी ने अलंकार शास्त्र की सभी मुख्य-मुख्य बातें बड़ी योग्यता से लिखी हैं। लक्षण तो आपने स्वयं अपने बनाये दिये हैं और उदाहरण तुलसीदास, विहारी आदि हिन्दी के प्राचीन कवियों के ग्रन्थों से दिये हैं। आपकी नम्बर १५ पुस्तक भी ऐसी ही है। वह रीवाँनरेश को अर्पण की गयी है। इसीसे उसके नाम के आरम्भ में उनका भी नाम है। उसके टाइटिल पेज पर लिखा है कि वह "साहित्य, नाटक और अलंकार का अति अद्भुत ग्रन्थ है।"

आपके कार्य से विहार के बड़े-बड़े अफसर–जज, कलेक्टर, कमिश्नर आदि–आप पर बड़े प्रसन्न रहते थे। इनमें से अनेकों ने आपको अच्छी सर्टिफिकटें दी हैं। आप विहार की टेक्स्ट बुक कमिटी के मेम्बर भी थे।

हथुआ, दरभंगा और रीवाँ के राजा महाराजा भी आपका सम्मान करते थे। दो एक पुस्तकों के छपवाने में इन लोगों ने पण्डित जी को अच्छी सहायता दी थी।

पण्डितजी की रचना बड़ी सुबोध और मनोहारिणी है। आप ब्रजभाषा में कविता भी अच्छी किया करते थे। आप की दोनों प्रकार की रचनाओं से दो एक उदाहरण देकर मैं अब इस लेख को समाप्त करता हूँ—

गद्य-रचना :—

अत्यन्त सुन्दर श्यामरूप कण्ठ में जनेऊ और कानों में कुण्डलधारी कुशदण्ड लिए अक्षमाला पहने अति मधुर-भाषी ब्रह्मचारी के भेष में भगवान् बलि यज्ञ-शाला के द्वार पर जा खड़े हुए।

(ईश्वर के दशावतार)

पद्य-रचना :—

राधा जो बाधा हरे जग की
हरि हेरि न कुंज के बीच ठगी सी।
पग आगे परे नहिं पीछे परे
पुनि स्वासे चले जनु शोक लसी सी।
सोचति शोक विमोचनि शोक
विमोचन कौ जनु बाधा ग्रसी सी।
अवलोकति एकहिं ओर खड़ी
सुमृगी इव जाल विशाल फसी सी

(विहारि-तुलसि-भूषण)

१९१५

❀ ❀ ❀

दिनों का नामकरण किसने किया ?

श्री हीरानन्द शास्त्री

नामों की उत्पत्ति

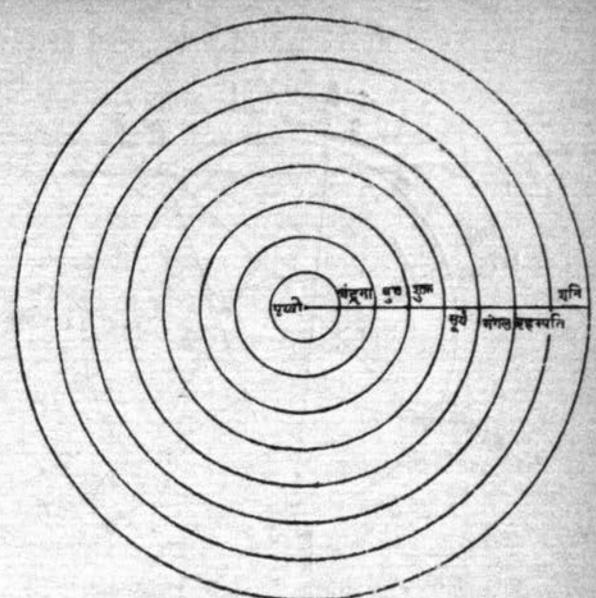
दिनों के नाम ग्रहों की संज्ञाओं के आधार पर रक्खे गये हैं। अर्थात् जो नाम ग्रहों के हैं वही नाम उनके दिनों के भी हैं। जैसे सूर्य के दिन का नाम रविवार, आदित्यवार, अर्कवार, भानुवार इत्यादि। शनैश्चर के दिन का नाम शनिवार, सौरिवार इत्यादि। चाहे आप संस्कृत में चाहे किसी अन्य भाषा में देखें साप्ताहिक दिनों के नाम सातों ग्रहों के नामों पर ही रक्खे हुए आपको मिलेंगे। संस्कृत

में ग्रह के नाम के आगे दिन या वासर या कोई और पर्य्याय-वाची शब्द रख दिया जाता है। इससे यह सूचित होता है कि अमुक ग्रह का अमुक दिन है। संक्षेप के लिए कभी-कभी केवल ग्रह का नाम ही दे दिया जाता है—जैसे रवौ, शुक्रे इत्यादि। योरप की भाषाओं में भी, इसी प्रकार, ग्रहों के नाम के साथ दिन का वाचक शब्द लगा दिया जाता है। जैसे :—

Latin	Saxon	English
Dies Solis	Sun'sday	Sunday
,, Lunae	Moon'sday	Monday
,, Martis	Tiw'sday	Tuesday
,, Mercurii	Woden'sday	Wednesday
,, Jovis	Thor'sday	Thursday
,, Veneris	Frigg'sday	Friday
,, Saturni	Saterne'sday	Saturday

संस्कृत में नौ ग्रह हैं। अतएव नौ ही दिन चाहिए—एक-एक ग्रह का एक-एक दिन। फिर सात ही दिन क्यों? इस प्रश्न पर हम आगे चलकर विचार करेंगे।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि यह क्रम कैसे चला और अमुक दिन अमुक ग्रह का है, इसका अभिप्राय क्या है। ज्योतिष के ग्रन्थों से विदित होता है कि प्राचीन समय में ग्रहों का क्रम इस प्रकार माना जाता था—शनि, बृहस्पति, मंगल, सूर्य, शुक्र, बुध और चन्द्रमा। अर्थात् पृथ्वी की अपेक्षा शनैश्चर सबसे ऊपर या दूर माना जाता था और चन्द्रमा सबसे नीचे अर्थात् समीप जैसा कि चित्र से प्रकट है। इन ग्रहों को, जैसा कि सूर्य-सिद्धान्त आदि ग्रन्थों से सिद्ध है, ज्योतिषियों ने दिनों का स्वामी माना है। सूर्य्योदय से सूर्य्योदय तक के समय की दिन संज्ञा है। हमारे पूर्वजों ने इस काल को ६० भागों में विभक्त किया और एक-एक भाग का नाम घड़ी (घटी या घटिका) रक्खा। दूसरों ने उसे २४ भागों में बाँट दिया और एक-एक भाग का नाम 'अवर' (Hour) या घण्टा रक्खा। फिर उन्होंने एक-एक घड़ी या घण्टे को एक-एक ग्रह को बाँट दिया। अर्थात् उन्होंने यह मान लिया कि एक-एक घण्टा या घड़ी क्रमशः एक-एक ग्रह के आधिपत्य में रहती है। सूर्यनारायण प्रायः ग्रहों के राजा माने गये हैं। इस-लिए पहले दिन की पहली घड़ी या घंटे का स्वामी उन्होंने सूर्य को ठहराया। अतएव पहले दिन को उन्होंने सूर्य का



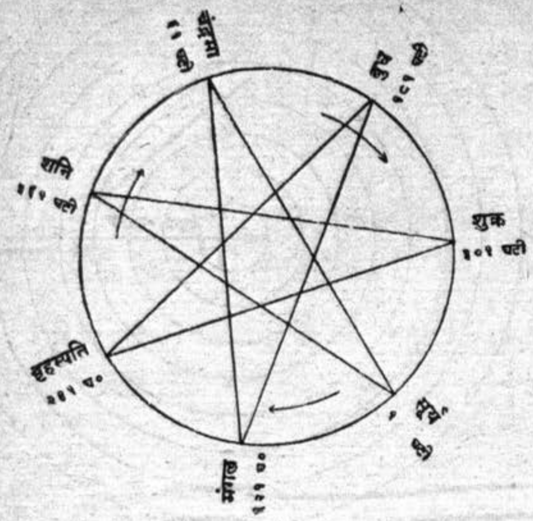
दिन माना। इसी तरह यदि हम प्रत्येक ग्रह को एक-एक घड़ी या घण्टा (Hour) देते जायँ तो दिनों का वही क्रम होगा जो आजकल प्रचलित है। साठ घड़ी के हिसाब से रोहक्रम, अर्थात् नीचे से ऊपर की ओर चलना, होगा। अवर (Hour) या घण्टे के हिसाब से अवरोह-क्रम, अर्थात् ऊपर से नीचे की ओर उतरना, होगा। चाहे हम सूर्य से प्रारम्भ करें, चाहे शनैश्चर से, चाहे चन्द्रमा से, क्रम वही होगा। घड़ियों की गणना में यदि हम सूर्य से चलें तो ६१वीं घड़ी चन्द्रमा की होगी, १२१वीं मंगल की इत्यादि। अर्थात् सूर्य के दिन के अनन्तर चन्द्रमा का दिन आवेगा, फिर मंगल का। इसी तरह और भी समझिए। घण्टों के हिसाब में २५वाँ चन्द्रमा का, ४९वाँ मंगल का होगा। तदनुसार ही दिन भी होगा। आगे दिये हुए चित्रों से यह बात अच्छी तरह समझ में आ जायगी।

इनमें तीर का मुख रोह या अवरोह के अनुसार दिखाया गया है।

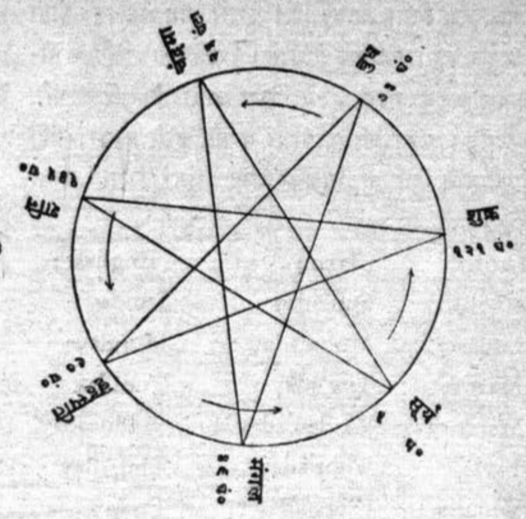
अब पाठक समझ गये होंगे कि दिनों का क्रम कैसे बना। जो ग्रह दिन की पहली घड़ी या घण्टे का स्वामी हुआ वही उस दिन का भी स्वामी माना गया।

अब प्रश्न यह है कि पहले पहल दिनों (Week Days) के नाम कब रक्खे गये और सबसे पहले किस जाति ने उनका प्रयोग किया। मैं इन दोनों प्रश्नों का उत्तर देने में असमर्थ हूँ। यही हेतु मेरे इस लेख के प्रकाशित करने का है।

दिन को ६० घड़ियों में बाँटने से ऐसी गणना होगी



दिन को २४ घण्टों में बाँटने से यह गणना होगी



कुछ विद्वानों की राय है कि भारतवासियों ने ही सबसे पहले इन नामों को निकाला तथा इनका प्रयोग किया। कुछ वर्ष हुए मेरा भी ऐसा ही विचार था, परन्तु अब मुझे यह सम्मति प्रमाण-रहित प्रतीत होती है। मेरी समझ में शायद हम लोगों ने दिनों के नामों को विदेशियों से सीखा। ये विदेशी शायद ईजिप्त या मिस्र देश के निवासी हों। अथवा मोटे तौर पर यदि हम इन्हें यवन कहें तो कोई क्षति न होगी।

जिन मुख्य कारणों से मेरे विचार में यह परिवर्तन हुआ है उनका उल्लेख नीचे किया जाता है :—

(१) अति प्राचीन लेखों में दिनों के नाम नहीं पाये जाते। इसके सिवा कुशानवंशी राजाओं के समय के लेखों में भी वे प्रायः नहीं मिलते। हाँ, ऋतुओं और महीनों के नाम मिलते हैं यथा—

महाराजस्य ...... देवपुत्रस्य शाहिकनिष्कस्य सं ७ हे १ दिन १० ५ (१५) ....

अथवा

.... संवत्सरे नवमे वास मासे १ दिवसे ५.

अथवा

...... सं २० ग्री मा १ दि १०५

(१५).

इत्यादि

हे—से अभिप्राय हेमन्त से है और ग्री—से ग्रीष्म से। दि—से दिन सूचित किया गया है। यदि उस समय दिनों के नामों का प्रचार होता तो अवश्यमेव दिनों के नाम भी लिखे जाते, जैसा कि अर्वाचीन लेखों में पाया जाता है। दिनों की क्या कथा, महीनों के नाम भी नहीं मिलते, जैसा कि ऊपर के उदाहरणों से सिद्ध है। उस समय लोग यही लिखते थे कि वर्षा का या अन्य ऋतु का कौन सा महीना है।

(२) सूर्य्य-सिद्धान्त-सदृश ज्योतिष के प्रसिद्ध ग्रन्थों में सप्ताह के दिनों का नाम नहीं। हाँ, दिनपति ग्रह का नाम अवश्य है। वहाँ पर वह 'होरा' का स्वामी माना गया है और होरा की गणना अवरोह-क्रम-पूर्वक शनैश्चर से की गई है, जैसा कि मैं ऊपर लिख चुका हूँ। प्राचीन काल के ज्योतिर्विद् शनैश्चर को सबसे ऊँचा ग्रह मानते थे। इसी से उन्होंने शनैश्चर से ही आरम्भ करके 'होरा' का विभाग किया और तदनुसार ही दैनिक क्रम की स्थापना की। इतिहासज्ञ जानते हैं कि ईजिप्त अर्थात् मिस्रदेश में सप्ताह शनैश्चर से ही प्रारम्भ होता था। इससे यह सम्भावना होती है कि शायद हमने मिस्र-निवासियों से ही ये नाम सीखे हों।

मेरी निश्चित सम्मति है कि 'होरा' का विभाग विदेशीय है। होरा और अवर (Hour) एक ही शब्द हैं। संस्कृत-ग्रन्थों में होरा शब्द का जो निर्वचन मिलता है वह कल्पित और प्रमाण-रहित है। वराहमिहिर जैसे विद्वान् ने भी

"होरेत्यहोरात्रविकल्पमेके वांछन्ति पूर्वापरवर्णलोपात्"

लिखकर व्यर्थ बुद्धि दौड़ाई है। कोशकारों ने तो अकिंचित्कर निर्वचन दिये हैं। उन्होंने यह नहीं कह दिया कि यह शब्द अन्य भाषा का है।

कथन का तात्पर्य यह कि कई अन्य बातों के साथ दिन-रात को २४ घण्टों या होरा अर्थात् अवर्स (Hours) में बाँटना इस देश के गणकों ने अन्य देशवालों से सीखा है। पर कब सीखा, यह नहीं कहा जा सकता। हाँ वह्नि-पुराण में इसका उल्लेख होने से अनुमान यह कहता है कि इस बात को हुए बहुत समय हुआ—

"चतुर्विंशतिवेलाभिरहोरात्रं प्रचक्षते।
पश्चिमादर्द्धरात्रादिहोराणां विद्यते क्रमः॥"

इस मत में यह शंका हो सकती है कि मिस्र वालों ने महीनों को दस दिनों में बाँटा था, सात दिनों में नहीं। पर यह कोई भारी शंका नहीं, क्योंकि इसमें सुगमताका होना ही कारण होगा। महीनों को प्रायः ३० दिनों का मानने से दस दस दिनों के तीन भाग ठीक हो जाते हैं। सप्ताह के हिसाब से ठीक नहीं होते।

(३) जहाँ तक मुझे विदित है, हमारे ग्रन्थों में सप्ताहों का उल्लेख नहीं। यदि हुआ भी होगा तो नवीन ग्रथों में।

(४) हमारे यहाँ नवग्रह माने जाते हैं। प्राचीन मन्दिरों में बहुधा ग्रहों की मूर्तियाँ पाई जाती हैं। वे नौ ही होती हैं। यदि हमारे यहाँ इन नामों की उत्पत्ति होती तो शायद नौ दिन का 'नवाह्निक' ही प्रचलित होता।

[प्रत्युत्तर]

कुछ समय हुआ, दिनों के नामकरण के सम्बन्ध में मेरा एक लेख सरस्वती में छपा था। उसका 'खण्डन' एक महाशय ने विद्यार्थी में प्रकाशित किया है। उसे एक मित्र की कृपा से मैंने पढ़ा। मैं बहुत प्रसन्न हूँ कि मेरे प्रश्नों के कारण कुछ तो इस विषय में चर्चा हुई।

आपने यह तो मान लिया कि अति प्राचीन लेखों में दिनों के नाम नहीं पाये जाते। पर इतना आपने और बढ़ा दिया कि—"उस समय दिन लिखने की रीति न थी!"

मेरी दूसरी बात यह थी कि सूर्य-सिद्धान्त-सदृश ज्योतिष के प्रसिद्ध ग्रन्थों में दिन के स्वामी ग्रह का उल्लेख तो है, परन्तु सप्ताह के दिनों का नाम नहीं है। इसके उत्तर में आप लिखते हैं कि मैंने—"कोई भी ज्योतिष का सिद्धान्त ध्यान पूर्वक पढ़ा ही नहीं।" अस्तु। आपने अनेक ग्रन्थ पढ़ने पर भी तो कोई स्थल ऐसा नहीं दिखलाया जहाँ सप्ताह के दिनों के नाम लिखे हों!!! मैंने तो यह स्वयं ही लिख दिया था कि उन ग्रन्थों में दिन या वार के स्वामी का नाम अवश्य है। यही बात आपने भी दुहरा डाली! यदि आप सप्ताह के दिनों के नामों का उल्लेख कहीं दिखला देते तो शायद आपके कथनानुसार यह सिद्ध हो जाता कि आपने ज्योतिष के ग्रन्थ खूब ध्यान-पूर्वक पढ़े हैं। परन्तु आप दिखलाते कहाँ से, वहाँ कुछ हो भी तो!

मेरी तीसरी बात यह थी कि जिस तरह अन्यत्र 'Week' या هفته—ऐसे पदों का प्रयोग प्रायः देखने में आता है उस तरह हमारे ग्रन्थों में नहीं देखने में आता। 'ज्योतिर्विद्' महाशय ने ऐसा एक भी उदाहरण नहीं दिया जिससे कोई बात इस कथन के प्रतिकूल सिद्ध हो।

मेरे चौथे कथन को तो आपने झट भ्रमात्मक ही सिद्ध कर डाला। यह तो वही बात हुई कि—"मुखमस्तीति वक्तव्यं शतहस्ता हरीतकी।" 'ग्रह' शब्द तो नौ (९) का पर्याय है। शायद आपके ग्रन्थों में ७ का ही वाचक हो! मुझे तो मालूम नहीं कि 'ग्रह' पद से सात ग्रहों का ही बोध होता है, नौ का नहीं। आपके लेख से मुझे तो यह प्रतीत होता है कि आप इस बात का खयाल करके कि विज्ञान (सायन्स) वालों ने राहु-केतु को कुछ और ही सिद्ध किया है, आप उन्हें ग्रह मानते हुए डरते हैं। आप ही कहिए, जब हम नौ ग्रहों की मूर्त्तियाँ प्राचीन मन्दिरों में प्रत्यक्ष देख रहे हैं तब उनकी संख्या ७ कैसे मान लें। क्या आप अपने पक्षांश की सिद्धि के लिए अपने ही ग्रन्थों के विरुद्ध चलेंगे? आपकी राय में क्या राहु-केतु ग्रह नहीं? देखिए कालिदास क्या कहते हैं—

रामस्येन्दोरिव ग्रहः। रघुवंश १२।२८

महाभारत में क्या लिखा है, सो भी देखिए—

चन्द्रः सूर्यः शनिः केतुर्ग्रहो ग्रहपतिर्वरः। १३।१७।३७

और नीचे उतरकर देखिए, विशाखदत्त क्या लिखते हैं—

क्रूरग्रहः स केतुः इत्यादि—

मुद्राराक्षस

"सूर्यश्चन्द्रो मंगलश्च बुधश्चापि बृहस्पतिः।
शुक्रः शनैश्चरो राहुः केतुश्चेति ग्रहा नव॥"

इत्यादि स्मृति-वाक्यों से तो हम लोग नौ ही ग्रह मानते चले आये हैं। वराहमिहिर या किसी एक आध

और आचार्य ने जो सात ही ग्रह मान लिये हों तो यह सर्व-मान्य सिद्धान्त नहीं हो सकता। ग्रह-पूजा में क्या आप सात ही की पूजा करते हैं? नौ के ध्यान या मन्त्र नहीं पढ़ते?

ये तो हुए प्रश्नों के उत्तर। बाकी बातों की भी थोड़ी सी आलोचना की जाती है। साथ ही कुछ और बातों का भी उल्लेख किया जायगा।

प्रतिपक्षी महाशय ने यह सिद्ध करने का साहस किया है कि हमारे प्राचीन ग्रन्थों में वार या हफ्ते के दिनों का वर्णन है। जिस प्राचीनतम आर्ष ग्रन्थ से उन्होंने अवतरण दिये हैं वह सूर्य-सिद्धान्त है। क्षण भर के लिए हम इस बात को मान लेते हैं कि सूर्य-सिद्धान्त में आदित्यवार सोमवार इत्यादि सब नाम पाये जाते हैं। पर मानने से भी क्या सिद्ध होगा? सूर्य-सिद्धान्त का निर्माण-काल कौन सा है, इसका तो पहले निर्णय कर लीजिए। यदि उसकी रचना "यवन-संसर्ग" से पहले की हो, तो आपका पक्ष अवश्यमेव स्वयंसिद्ध है; कोई उसे काट न सकेगा। मैंने तो अपने लेख में केवल यही कहा है कि ज्योतिष के सूर्य-सिद्धान्त-सदृश प्रसिद्ध ग्रन्थों में सप्ताह के दिनों का नाम नहीं; दिन के स्वामी का नामोल्लेख अवश्य है। इस कारण, अर्थात् दिनों का प्रचार-बाहुल्य न होने के कारण, सम्भावना या अनुमान यही कहता है कि हमारे यहाँ उस समय सप्ताह का या उसके दिनों का नया ही व्यवहार हुआ होगा। अर्वाचीन ग्रन्थों का उदाहरण देना व्यर्थ है। आर्यभट या वराहमिहिर या अन्य आचार्य यदि वारों का परिचय देते हैं तो क्या हुआ। उनके ग्रन्थों में तो "यवन-संसर्ग" का प्रभाव साफ ही दिखाई देता है। उनके पारिभाषिक शब्द ही इस भाषा के साक्षी हैं कि उन्होंने ग्रीक लोगों (यूनानियों) अथवा मोटे तौर पर यवनों से ज्योतिष शास्त्र की बहुत-सी बातें सीखीं। वराहमिहिर के होरा-शास्त्र को देखिए, उसमें कितने यूनानी शब्द हैं। यथा--

(१) होरा (Greek, Hora),

(२) केन्द्र (Greek, Kentron),

(३) जामित्र (Greek, Diametron) इत्यादि, कहाँ तक लिखें रोमक-सिद्धान्त (Roman Manual) का नाम ही इस बात का प्रबल प्रमाण है। 'ज्योतिर्विद्' महाशय का यह कहना कि रोमक से रोम (Rome) अभीष्ट नहीं, केवल उनका कथन मात्र है। इससे मेरा मतलब यह नहीं कि हमारे पूर्वजों ने ज्योतिष में सभी कुछ यवनों से सीखा या उन्हीं के आधार पर अपने आविष्कार किये। नहीं, उन्होंने ज्योतिष-शास्त्र की बहुत सी बातें पाश्चात्य विद्वानों को सिखलाईं। इस लेख से उनका सम्बन्ध नहीं। इस कारण उनका उल्लेख करके मैं पाठकों का समय नहीं लेना चाहता। पूर्वोक्त शब्द विदेशीय हैं, इसका एक मात्र प्रमाण यह है कि उनका निर्वचन कल्पित है।

यह युक्ति कि जैसे आज कल ५।८।१५ से पाँचवीं अगस्त सन् १९१५ ईसवी का बोध होता है, किन्तु दिन प्रायः कोई नहीं लिखता, इसी तरह पहले इस देश में दिन लिखने का रिवाज न था, कुछ भी बल नहीं रखती। यद्यपि चिट्ठियों में बहुधा हम लोग ऐसा प्रयोग करते हैं तथापि दिनों का भी प्रयोग किया ही जाता है। जहाँ कहीं, हम लोग कोई दिन नियत करेंगे वहाँ दिन का उल्लेख अवश्य ही करेंगे। विज्ञप्ति-पत्रों और निमंत्रण की चिट्ठियों आदि में दिन का नाम प्रायः सदा ही लिखा जाता है। महत्त्वपूर्ण दस्तावेजों और कागज-पत्रों में तो दिन का अवश्य ही उल्लेख किया जाता है। जहाँ निर्धारण आवश्यक होता है अथवा जहाँ तारीख का ठीक ठीक बोध कराना होता है वहाँ अवश्य ही दिन लिखा जाता है। दानादि के सम्बन्ध में पहले सब बातों का लिखना जरूरी समझा जाता था। इसी से दान-पत्रों में साल, महीना, दिन, तिथि, नक्षत्र, करण, मुहूर्त्त आदि प्रायः सभी का उल्लेख किया जाता था। परन्तु यह सब तब से होने लगा जब से हम लोगों को इन बातों का ठीक ठीक ज्ञान हुआ। उसके पहले नहीं। अपने संकल्प ही को देखिए, उसमें किस किस का उल्लेख है।

प्रसंगवश मैं यहाँ पर इतना और लिख देना चाहता हूँ कि कुशान-राजाओं के समकालीन लेखों की तरह महाराज अशोक के शासन-लेखों से भी मेरे अनुमान की पुष्टि होती है। जैसे स्तम्भ-लेख नम्बर ५ में महाराज अशोक ने आज्ञा दी है कि अमुक-अमुक दिन अमुक-अमुक जीव न मारा जाय। शासन का कुछ भाग यहाँ उद्धृत किया जाता है--

अठमि पखाये चावुदसाये पंनडसाये तिसाये पुनावसुने तीसु चातुंमासीसु सुदिवसाये गोने नो नीलखितविये अजके एडके सूकले एवापि अंने नीलखियति नो नीलखित-

बिये तिसाय पुनावसुने चातुंमासिये चातुंमासिपखाये अश्वस गोनस लखने नो कटविये ॥

अर्थात् पक्ष के आठवें, चौदहवें और पन्द्रहवें दिन; तिष्य और पुनर्वसु नक्षत्र में; तीन ऋतुओं की पूर्णिमा में; और उत्सव के दिन बैल खस्सी न किये जायँगे। एवं बकरा, मेढा, सुअर तथा अन्यान्य पशु, जो खस्सी किये जाते हैं, वे भी खस्सी न किये जायँगे। तिष्य, पुनर्वसु और पूर्णिमाओं में बैलों और घोड़ों का अंकित किया जाना निषिद्ध है।

क्या ही अच्छा होता यदि इस लेख में वार भी नियत कर दिये जाते। पर उस समय वारों का प्रचार ही न था।

१९१५

❀ ❀ ❀

भगवद्गीता कब बनी

श्री कन्नोमल एम० ए०

भगवद्गीता कब बनी, इस विषय में बहुत मतभेद है। प्राचीन ग्रन्थ-कर्त्ताओं ने बहुधा ग्रन्थ रचने का समय नहीं लिखा। किसी किसी ने तो अपना नाम तक नहीं बताया। अतएव गीता-रचना का ठीक समय निश्चय करना अति कठिन है। तथापि कुछ ऐसे प्रमाण और घटनायें हैं जिनके आधार पर कुछ अनुमान किये जा सकते हैं। विद्वानों ने जो सम्मतियाँ इस विषय में दी हैं उनका उल्लेख, यहाँ पर, थोड़े में कर देना, आवश्यक मालूम होता है।

प्रोफेसर टी० आर० अमलनेरकर ने गीता के निम्न-लिखित श्लोक से निश्चय किया है कि बादरायण-कृत वेदान्तसूत्रों के पश्चात् गीता रची गई है।

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्र-पदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥

इस श्लोक में ब्रह्मसूत्र पद से मतलब वेदान्त-सूत्रों से है, और वेदान्त-सूत्रों के दूसरे अध्याय में बौद्ध और जैन धर्म का विचार है। अतएव वेदान्त सूत्र बौद्ध मत के पीछे रचे गए और गीता उनके भी पीछे बनी। यदि ब्रह्मसूत्र गीता के पहले न रचे गए होते तो ब्रह्मसूत्रों का नाम गीता के इस श्लोक में न दिया जाता।

प्रोफेसर मोक्षमूलर की भी यही सम्मति है। यदि ये अनुमान ठीक माने जायँ तो गीता बनने का समय ईसा के कई शताब्दी पीछे ठहरता है।

एतद्देशीय विद्वान् जैसे माननीय तैलंग आदि, इस सम्मति के विरुद्ध हैं। वे श्रीमच्छंकराचार्य के गीता-भाष्य के अनुसार इस श्लोक का अर्थ लगाते हैं। ब्रह्मसूत्र-पद से वे बादरायण-कृत वेदान्त-सूत्रों का आशय नहीं स्वीकार करते। वे कहते हैं कि ब्रह्मसूत्र से मतलब ब्रह्म-प्रतिपादक वाक्यों से है। वेदान्त-सूत्रों में इन सूत्रों का नाम ब्रह्मसूत्र कहीं नहीं। न शंकराचार्य जी ने ही इनको ब्रह्म-सूत्र के नाम से उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त अब तो यह भी सिद्ध हो चुका है कि वर्तमान वेदान्त-सूत्र कोई और पुराने सूत्रों की आवृत्ति हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि गीता में बौद्धमत के सम्बन्ध में कुछ श्लोक हैं। अतएव गीता गौतम बुद्ध के पीछे रची गई है। ये श्लोक गीता के सोलहवें अध्याय में ७ से १८ तक हैं। इनमें आसुरी प्रकृति वाले मनुष्यों का वर्णन है। इस विषय में प्रोफेसर मोक्षमूलर ने कोई सम्मति नहीं प्रकाशित की। परन्तु प्रोफेसर अमलनेरकर और प्रोफेसर विल्सन ने लिखा है कि असुरों के वर्णन का सम्बन्ध बौद्ध मतावलम्बियों से है।

श्रीयुत तैलंग इस सम्मति के भी सर्वथा विरुद्ध हैं। उनका कथन है कि यह वर्णन चार्वाकों का है, बौद्धों का नहीं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि चार्वाक बौद्धों से बहुत पहले के हैं। हमारे ग्रन्थों में इनका बहुधा वर्णन है। चार्वाकों के गुरु बृहस्पतिजी ने एक सूत्रबद्ध पुस्तक लिखी थी, जो अब नहीं मिलती। परन्तु और ग्रन्थों से इस पुस्तक का

होना पाया जाता है। माधवाचार्य कृत सर्वदर्शन-संग्रह में भी चार्वाकों का उल्लेख है।

भगवद्गीता उपनिषदों के सिद्धान्तों से भरी हुई है। अतएव यह स्पष्ट है कि उसकी रचना का समय उपनिषदों और ब्रह्मसूत्रों की रचना के समय के बीच का है। पर उसमें जो सिद्धान्त हैं उनसे सूचित होता है कि वह बौद्धमत के आविर्भाव के पहले की है और यह समय ईसा के पूर्व छठी शताब्दी है।

गीता के दूसरे अध्याय के पैंतालीसवें श्लोक में निर्द्वन्द्व शब्द है। इससे विदित होता है कि गीता पाणिनि से पहले की है, क्योंकि द्वन्द्व समास का प्रचार पाणिनि-सूत्रों से पहले का है। पाणिनि ही इस समास के उद्भावक नहीं हैं। वह उनके भी पहले से चला आता है। उन्होंने उसे स्वीकार मात्र कर लिया है।

पश्चिमी विद्वानों ने हमारे साहित्य की रचना के काल को कई भागों में बाँटा है। उनके अनुसार पहला काल मन्त्र-रचना का है। उसी समय वेद-मन्त्रों की सृष्टि हुई। इस काल के उन्होंने दो विभाग किए हैं। पहला वह समय जब ऋग्वेद बना, दूसरा वह जब साम, यजुर् और अथर्व वेद की रचना हुई। प्रोफेसर मेकडोनल इस समय को ईसा के पूर्व २००० से १००० वर्ष तक बताते हैं। दत्त महाशय की भी यही सम्मति है।

दूसरा काल उपनिषदों और ब्राह्मण-ग्रन्थों की रचना का है जो ईसा के पूर्व १००० से ५०० वर्ष तक बताया जाता है।

तीसरा काल सूत्र-ग्रन्थ-रचना का है, जो ईसा के पूर्व ५०० वर्ष से २०० वर्ष तक है।

चौथा काल धर्मशास्त्रों की रचना का है, जो ईसा के २०० वर्ष पहले से ५०० वर्ष तक पीछे का है।

अब यह निश्चय करना है कि इन समय-विभागों में से किस समय-विभाग में महाभारत की रचना हुई क्योंकि गीता उसी का अंश है। पर, इसका निर्णय करना सहज नहीं, क्योंकि महाभारत की रचना एक ही समय में नहीं हुई। उसके रचने वालों की संख्या भी एक से अधिक है। खैर, महाभारत किसी समय में क्यों न बना हो, वेदों से सिद्ध है कि कुरु-पांचाल-युद्ध ईसा के १२ या १३ शताब्दी पहले हुआ था।

महाभारत के आदि पर्व में लिखा है कि जब शौनकादि ऋषि नैमिषारण्य में यज्ञ कर रहे थे उस समय उग्रश्रवा ऋषि वहाँ आकर उपस्थित हुए। शौनकादिक की प्रार्थना पर उन्होंने महाभारत की कथा वर्णन की। उग्रश्रवा ने महाभारत की कथा वैशम्पायन से सुनी थी और वैशम्पायन ने व्यास से। वैशम्पायन का कथन है कि व्यास ने अपने चार शिष्यों और पुत्र शुक को यह कथा सुनाई थी। उनमें से प्रत्येक ने महाभारत को प्रकाशित किया है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जो असली महाभारत व्यास जी ने कथन किया था वह यह नहीं है। वह इन शिष्यों में से किसी एक का कथन किया हुआ है। परन्तु है यह व्यासजी के असली महाभारत के आधार पर।

पश्चिमी विद्वानों ने इस ग्रन्थ की बड़ी खोज की है और इसे बड़े ध्यान से पढ़ा है। वे कहते हैं कि इस ग्रन्थ की चार आवृत्तियाँ हुई हैं। यथा :—

(१) आदि पर्व में लिखा है कि महाभारत में ८८०० ऐसे श्लोक हैं जिनका अर्थ व्यास और शुकदेव जी को छोड़कर और कोई नहीं जानता। संजय शायद जानते हों तो जानते हों। इससे यूरोप के विद्वानों ने यह तात्पर्य निकाला है कि पहले इस ग्रन्थ में केवल ८८०० श्लोक थे, जो ईसा के ५०० वर्ष पहले रचे गए थे। गृह्य-सूत्रों से भी इतनी ही श्लोक-संख्या का पता लगता है।

(२) आदि-पर्व में यह भी लिखा है कि जो भारत-संहिता व्यासजी ने रची थी उसमें २४००० श्लोक थे और गीता उनमें शामिल थी। इस दूसरी आवृत्ति में शिव, विष्णु, कृष्ण, आदि का स्थान ब्रह्मा के समकक्ष माना गया है। प्राचीन समय में ब्रह्माजी ही सबसे बड़े देवता समझे जाते थे। इसलिए इसके रचे जाने का समय ईसा के तीन सौ वर्ष पहले का है। इस अनुमान का यह भी कारण है कि यूनान देश के विद्वानों ने विशेषकर मेगास्थनीज ने, इन देवताओं के पूजे जाने का हाल लिखा है।

(३) महाभारत के दूसरे पर्व में श्लोकों की संख्या ८४,८३७ बताई गई है। इस कारण यह तीसरी आवृत्ति हुई।

(४) इस समय हरिवंश पुराण सहित महाभारत में १,०७,३९० श्लोक हैं। अतएव यह चौथी आवृत्ति हुई।

तीसरी और चौथी आवृत्तियों का समय ईसा से २०० वर्ष पहले से ५०० वर्ष पीछे तक माना गया है। ईसा के ४५०-५०० वर्ष पीछे के जो दानपत्र मिले हैं उनसे पाया

जाता है कि महाभारत की चौथी, अर्थात् अन्तिम आवृत्ति ईसा के ४०० वर्ष पीछे बनी थी।

एल० के० विश्वविद्यालय के प्रोफेसर ई० ए० होपकिन साहब, जिन्होंने महाभारत का सम्पादन किया है, इन आवृत्तियों का निम्नलिखित समय बताते हैं :—

पहली आवृत्ति ईसा के ४०० वर्ष पूर्व बनी। इस आवृत्ति में केवल मन्त्र थे।

दूसरी आवृत्ति में पाण्डवों के वीर चरित्रों का वर्णन था। पर और और कथायें भी सम्मिलित थीं। उसमें कृष्ण देवता माने गए थे। यह आवृत्ति ईसा के ४००-२०० वर्ष पूर्व बनी थी।

तीसरी आवृत्ति ईसा के पूर्व २०० वर्ष से उनके बाद १०० या २०० वर्ष पीछे तक बनी। इसमें कृष्ण पूर्ण-रीति से ईश्वर माने गए और अनेक धर्म-विषयों का वर्णन किया गया। इसमें बहुत सी पौराणिक कथायें भी सम्मिलित की गईं।

चौथी आवृत्ति ईसा के पूर्व २०० वर्ष से उनके बाद ४०० वर्ष तक बनी। इसमें वर्तमान सभी पर्व शामिल हुए और पहले पर्व की भूमिका भी लिखी गई। होपकिन साहब की सम्मति में समग्र महाभारत ईसा के २०० वर्ष पीछे बन चुका था।

इन आवृत्तियों में से सबसे पीछे की आवृत्ति में गीता का सम्मिलित होना अनुमान किया जाता है। इसकी रचना धर्म-शास्त्रों से पहले की नहीं। और धर्म-शास्त्र-रचना का समय ईसा के २०० वर्ष पहले से आरम्भ हुआ है।

गीता का समय निश्चय करने के लिए दो प्रकार के प्रमाण हैं। अभावात्मक और भावात्मक। अभावात्मक प्रमाण यह है कि पूर्वोक्त चार प्रकार के ग्रन्थ-रचना-काल में गीता का पता नहीं लगता। अर्थात् मन्त्र, ब्राह्मण, उपनिषद् और सूत्र-ग्रन्थों के रचनाकाल में गीता नहीं बनी। भावात्मक प्रमाण यह है कि चारों काल-विभागों के ग्रन्थों के आशय गीता में मिलते हैं। गीता में उन सभी ग्रन्थों की झलक दिखाई देती है। अतएव पूर्व-निर्दिष्ट अनुमानों का सारांश यह है कि धर्मशास्त्रों की रचना के समय के आरम्भ काल से पूर्व की गीता नहीं। अर्थात् वह सन ईसवी से कुछ पहले और कुछ पीछे की है। ईपिक इन्डिया नामक ग्रन्थ के लेखक श्रीयुत सी० वी० वैद्य, एम० ए०, के मतानुसार वीर-चरितात्मक ग्रन्थों की रचना ईसा से ३०००–३०० वर्ष पहले की है। क्योंकि महाभारत का युद्ध ईसा से ३१०१ वर्ष पहले हुआ था। असली महाभारत युद्ध के बहुत काल पीछे न बना होगा, पर अन्तिम आवृत्ति ईसा के २५० वर्ष पहले के लगभग सूत जी के द्वारा तैयार हुई होगी अर्थात् वह अशोक के पूर्व और मेगास्थनीज के पीछे बनी होगी।

भगवद्गीता के रचना-काल के विषय में वैद्य महाशय की यह सम्मति है कि महाभारत की अन्तिम आवृत्ति के समय की गीता नहीं। किन्तु वह सब से पहली आवृत्ति की है। प्रमाण में वे यह कहते हैं कि महाभारत के बहुत स्थलों में गीता का उल्लेख आदरपूर्वक किया गया है। गीता के श्लोक भी महाभारत में स्थान-स्थान पर मिलते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वर्तमान गीता एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है। वह एक ही समय में रचा गया है। गीता के रचने वाले व्यास जी हों अथवा वैशम्पायन जी हों, पर थे वे बड़े विद्वान्। गीता बहुत पुरानी है। बुद्ध के जन्म से शताब्दियों पहले वह बन चुकी थी। अठारहों अध्यायों का विषय-प्रवाह एक सा है। कहीं विच्छेद-भाव नहीं। उसकी रचना सरल और सरस है। थोड़े में बहुत कुछ कह दिया गया है। गीता की रचना का समय उसकी भाषा से भी अनुमित हो सकता है। गीता बोल-चाल की सरल संस्कृत में है। गीता में बौद्ध मत की कोई बात नहीं।

पण्डित सीतानाथ तत्वभूषण की सम्मति है कि गीता ईसा के जन्म के कुछ पहले या पीछे बनी थी।

जो प्रमाण ऊपर दिये गये हैं उन पर जो आक्षेप किय जा सकते हैं उनकी भी बानगी देख लीजिए। अभावात्मक प्रमाणों द्वारा कहा जाता है कि गीता के सिद्धान्त मन्त्र, ब्राह्मण, उपनिषद् और सूत्र-समय के रचे हुए ग्रन्थों में नहीं हैं। सूत्र-ग्रन्थों का समय ईसा के पूर्व ५०० के १०० वर्ष तक बताया जाता है और कहा जाता है कि गीता उस समय के पीछे बनी होगी। परन्तु प्रश्न यह है कि क्या गीता में सूत्र-ग्रन्थों की बातें हैं? गीता में तो ऐसी कोई बात नहीं। अतएव इससे क्या यह सिद्ध नहीं होता कि गीता इस समय के पहले बनी थी? इसमें सन्देह नहीं कि गीता में मन्त्र, ब्राह्मण और उपनिषद्-ग्रन्थों के सिद्धान्त पाये जाते हैं परन्तु सूत्र-ग्रन्थों की कोई बात नहीं।

गीता में छहों शास्त्रों के सिद्धान्त विद्यमान हैं परन्तु ये सिद्धान्त वेदों और उपनिषदों के हैं। अतएव सब प्राचीन हैं। यह नहीं कि वे वर्तमान छहों शास्त्रों से लिये गये हों। गीता में शास्त्रों के नाम नहीं। अतएव यह सिद्ध नहीं कि गीता ने इन ग्रन्थों से अपने सिद्धान्त लिये हैं। उपनिषदों के बहुत से श्लोक गीता में जैसे के तैसे पाये जाते हैं।

इन्हीं कारणों से गीता का बनना ईसा के ६०० वर्ष पहले सिद्ध होता है क्योंकि ईसा के ५०० वर्ष पहले से सूत्रग्रन्थों का बनना प्रारम्भ हुआ था। परन्तु गीता उसके पहले ही बन चुकी थी। यह अनुमान खेंचातानी का फल नहीं। भारतवर्ष के बड़े-बड़े विद्वानों की सम्मति है कि गीता की रचना ईसा के ६०० वर्ष पहले हुई होगी। इस अनुमान को काटने वाले जब तक कोई और प्रबल प्रमाण न मिलें तब तक इसी को ठीक मानना उचित होगा।

हमारे सनातनी पण्डितों के विचार से गीता पूर्वोक्त समय से और भी पहले की है। वे कहते हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्र जी ने अपने मुख से गीता का उपदेश अर्जुन को कुरुक्षेत्र में किया था। जितना समय महाभारत के युद्ध को हुआ उतना ही गीता को बने हुआ।

१९१५

❀ ❀ ❀

किन्नर जाति

श्री सन्तराम बी० ए०

शिमला नगरी से कोई एक सौ मील की दूरी पर, उत्तर दिशा में, रामपुर बशहर रियासत के अन्तर्गत, एक अतिसुन्दर और सुरम्य प्रदेश है। उसे लोग "कनौर" नाम से पुकारते हैं। कनौर-प्रान्त रामपुर नरेश की दूसरी राजधानी, सराहन, से लेकर तिब्बत की सीमा तक चला गया है। वहाँ के पर्वत देवदार के हरे भरे जंगलों से ढके हुए हैं। पर्वतों के शिखर पर खड़े होकर चारों ओर दृष्टि दौड़ाने से ऐसा मालूम होता है मानों गिरिराज हिमालय हरे वस्त्र धारण किये हुए भगवद्गीता में निमग्न हैं। बनों में नाना प्रकार के कुसुमों से लदी हुई तरुलतायें और झरझर बहनेवाले शीतल और मधुर जल के झरने कनौर की शोभा बढ़ा रहे हैं। पुष्प-सुगन्ध के परमाणुओं से परिपूर्ण समीर अपनी मन्द-मन्द गति से प्राणिमात्र में नव जीवन का संचार कर रहा है। बीचोंबीच सतलज नदी की निर्मल सलिल राशि पर्वतों के साथ खेलती हुई, कल-कल नाद के साथ, बह रही है। ऐसे ही सुहावने प्रदेश में एक जाति निवास करती है जिसे सर्वसाधारण कनौरा कहते हैं। यह वही जाति मालूम होती है जिसका उल्लेख हमारे ग्रन्थों में किन्नर नाम से हुआ है। रूप-लावण्य और आकृति से ये लोग आर्य-वंशीय प्रतीत होते हैं। हलका शरीर, लम्बा ललाट, बड़े-बड़े नेत्र और गौर वर्ण ये सब बातें आर्य जाति के ही चिह्न हैं। किन्नर स्त्रियाँ बड़ी चतुर और सुन्दरी होती हैं। निर्धनता के कारण मैले कुचैले वस्त्र पहनने पर भी उनका प्राकृतिक सौन्दर्य ऐसा चमकता है जैसे गुदड़ी के भीतर मणि। हिमालय के स्वच्छ वायु और निर्मल जल के सेवन से जो कान्ति इनके मुखमण्डल पर दिखाई देती है वह नगरों के विषैले और दुर्गन्धयुक्त वायुमण्डल में रहकर सहस्रों प्रकार के उबटन लगाने से भी नहीं प्राप्त हो सकती।

किन्नर पुरुष ऊनी कपड़े का कोट, पायजामा और टोपी पहनते हैं। स्त्रियाँ गाऊन की तरह का एक ऊनी वस्त्र पहनती हैं। उसे पहाड़ी भाषा में 'दोड' कहते हैं। दूर से देखने पर गाऊन और दोड में बहुत कम भेद प्रतीत होता है। दोड को अटका रखने के लिए एक प्रकार की सूई या बकसुआ सा होता है। उसे पीचू बोलते हैं। स्त्रियाँ सिर पर टोपी रखती हैं। टोपी के आगे अँगरेजों की टोपी के सदृश कपड़े का एक छज्जा-सा बाहर निकला होता है। उससे सूर्य के प्रकाश से नेत्रों की रक्षा होती है। स्त्रियाँ प्रायः गले में मूँगे की माला और दुवन्नी चवन्नी आदि के हार, कानों में बालियाँ, हाथों में कंगन और नाक

में नुकरा, जिसे किन्नर-भाषा में कुण्डी कहते हैं, पहनती हैं। सुन्दर और भड़कीले वस्त्र प्रायः इन्हें बहुत कम प्राप्त होते हैं। इसलिए ऊनी कपड़ों को ही धो धो कर वे प्रायः साफ करती रहती हैं।

कन्नौर में शीत अधिक पड़ता है। इसलिए खेती बहुत कम होती है। हिमाच्छादित स्थानों के समीप तो वर्ष भर में केवल एक ही बार गेहूँ की फसल होती है। वह भी थोड़ी-सी। इसलिए खाद्य वस्तुओं की यहाँ बहुत कमी है। परन्तु इस देश में शफतालू बहुत होता है। लोग उसे इकट्ठा करके सुखा लेते हैं। उसके छिलके को वे आटे की तरह पीस कर उससे एक प्रकार का भोजन बनाते हैं। इस भोजन को वे अपनी भाषा में लफ्फी कहते हैं। शफतालू की गुठली तोड़कर उसका बीज निकाल लेते हैं। वह खाने में बड़ा स्वादिष्ट होता है। पेरने पर उससे तेल निकलता है। ये लोग इस तेल को खाते हैं।

गेहूँ के अतिरिक्त यहाँ फाफरा और औगला नाम के दो और निकृष्ट धान्य भी होते हैं। मांस, मदिरा और चाय का भी यहाँ बहुत प्रचार है। परन्तु स्त्रियाँ मदिरा पान नहीं करतीं। यहाँ के आदमी बड़े मृदुप्रकृति और सुशील हैं। परन्तु कई कारणों से डरपोक हो गये हैं। पर्यटकों और अन्य लोगों के अत्याचार इन्हें सहने पड़ते हैं। इनसे बेगार ली जाती है। श्वेत वस्त्रधारी को देखते ही ये बेचारे काँपने लगते हैं। गरीब अमीर, स्त्री-पुरुष सभी बेगार में पकड़े जाते हैं। फिर भी ये लोग बड़े मौजी और जिन्दादिल हैं। दरिद्रता में भी प्रसन्न रहना कोई इनसे सीखे। स्त्रियों में पर्दे का नाम नहीं। गाने-बजाने और खाने-पीने का सबको शौक है। स्त्री-पुरुष, लड़के-लड़कियाँ सब मिलकर गाते और नाचते हैं। उत्सवों और मेलों में समस्त नर-नारी कपड़े साफ करते और स्नान करते हैं। फिर सायंकाल देवमन्दिर में जाकर, एक दूसरे का हाथ पकड़कर और पंक्ति बाँधकर नाचते हैं तथा गाते हैं। पंक्ति के अगले भाग में प्रायः पुरुष होते हैं और पिछले में स्त्रियाँ। परन्तु इसका कोई विशेष नियम नहीं। कहीं कहीं स्त्री-पुरुष परस्पर मिल कर ही खड़े हो जाते हैं। इनका नाच देखकर और इनके गीत सुन कर चित्त बहुत प्रसन्न होता है। जिन्होंने स्वयं अपनी आँख से यह नाच देखा है वे इसे कभी निन्द्य नहीं कह सकते। इसमें किसी प्रकार का अनौचित्य नहीं दिखाई देता। यह नाच पवित्र प्रेम और प्राकृतिक आमोद का सूचक है। यह एक जातीय उत्सव है। संसार की कितनी ही सभ्य जातियों में इस तरह का नाच प्रचलित है।

दिन भर के भारी परिश्रम के पश्चात विशेषतः सायंकाल, बेगार करके लौटते समय जब सब स्त्री-पुरुष, एक दूसरे का हाथ पकड़े दो-दो की पंक्ति में, ऊँचे स्वर से गाते हुए चलते हैं तब बड़ा मनोहर दृश्य दिखाई देता है। इनका गीत-गान दो-दो चार-चार घण्टे बराबर होता रहता है। खेत में बैठी हुई एक दो युवतियाँ जब मिलकर गाती हैं तब पर्वतों की टक्कर से प्रतिध्वनित होकर उनकी आवाज एक विशेष प्रकार का आनन्द देती है। इन लोगों को पुष्पों से बड़ा प्रेम है। जहाँ कहीं फूल मिले झट तोड़ कर टोपी से लटका लिये।

आचार की दृष्टि से भी ये लोग अपने पड़ोसी अन्य पहाड़ी लोगों से बहुत अच्छे हैं। शिमले के समीपवर्ती प्रदेश में फी सदी ८० स्त्रियाँ आचारहीना हैं। पर किन्नर नारियों में इनकी संख्या बहुत ही कम है। सुनते हैं, पहले पति या प्रेमी के विश्वासघात करने और छोड़कर भाग जाने पर, अथवा किसी के व्यर्थ लांछन लगाने पर, किन्नर नारियाँ सतलज में कूदकर प्राण परित्याग कर दिया करती थीं। अब भी कहीं-कहीं ऐसी घटना हो जाती है।

कनौरी भाषा एक जुदा ही भाषा है। परन्तु जिन लोगों को और देशवालों से काम पड़ता है वे कामचलाऊ हिन्दी अच्छी तरह समझ सकते हैं और बोल भी सकते हैं। इनकी भाषा तिब्बती और संस्कृत के मिश्रण से बनी प्रतीत होती है। उदाहरणार्थ––"तुम्हारा नाम क्या है!" किन्नर भाषा में इसका अनुवाद होगा––"किं नामं छिद ? इन लोगों के नाम भी, भाषा की दृष्टि से तीन प्रकार के हैं––विशुद्ध संस्कृत, विशुद्ध तिब्बती और तिब्बती तथा संस्कृत मिश्रित। नीचे हम तीनों प्रकारों के उदाहरण देते हैं। पाठक देखेंगे कि इनमें से कई नाम कैसे मनोहर हैं––

(१) विशुद्ध संस्कृत नाम।

(पुरुषों के नाम)

पद्मवीर, इन्द्रवीर, इन्द्रियजित, नरज्ञान, नकुल, नरपाल, धर्मराय, पद्मदास, ज्ञानवीर, सर्वजित, सुखानन्द।

(स्त्रियों के नाम)

चन्द्रमणि, इन्द्रमणि, हीरामणि, देवकली, श्यामकली,

कुन्ती, द्रौपदी, हिरण्य, गंगादासी, धर्मदासी, इन्द्रदासी, जीवदासी, श्रद्धा।

(२) विशुद्ध तिब्बती नाम।

(पुरुषों के नाम)

डण्डप छुपल, टाशी छरिंग, छरिंगडुप, यंगतुन, क्षाल-छेदने।

(स्त्रियों के नाम)

टाशी बूटी, क्षलजिन, सिम्बा, छरिंग टाशी।

(३) मिश्रित नाम।

(पुरुषों के नाम)

नरतन छरिंग, टाशीराम, सनमसुख, यंग सुखाराम।

(स्त्रियों के नाम)

सनममणि, पतिछो, जुगतपुरी, धनलच्छि, छरिंगपति।

इन लोगों का धर्म आर्य धर्म है, परन्तु बौद्ध मत की भी बहुत-सी बातें उसमें घुस गई हैं। इन लोगों में देवी देवताओं की पूजा का बड़ा प्रचार है। स्थान-स्थान पर देवालय बने हुए हैं। निचार नामक स्थान में उषा देवी का एक विशाल मन्दिर है। शिक्षा का प्रचार न होने के कारण ये लोग प्रायः मूढ़-विश्वासी हैं। परन्तु अब कहीं कहीं प्रारम्भिक स्कूल खुल गये हैं, जिससे इन लोगों के ज्ञान-चक्षु खुलने लगे हैं और अविद्यान्धकार दूर हो रहा है।

इनके विवाह की रीति बड़ी विचित्र है। घर के छोटे-बड़े सब भाई मिलकर एक स्त्री रख लेते हैं। इस विवाह को ये लोग पाण्डव विवाह कहते हैं। बड़े भाई की स्त्री सब भाइयों की स्त्री समझी जाती है। इस रीति का यह परिणाम हुआ है कि बहुत-सी स्त्रियाँ अविवाहिता हैं। यदि इनसे इस रीति का कारण पूछा जाता है तो ये कहते हैं, हमारा देश ठण्ढा है। यहाँ अन्न बहुत कम उपजता है। सब भाइयों के अलग-अलग स्त्री करने से सन्तान-संख्या बहुत बढ़ जाय और इसके पालन-पोषण के लिए इस प्रान्त में अन्न-वस्त्र मिलना कठिन हो जाय। कुटुम्बियों में से एक भाई नमक खरीदने जाता है, दूसरा भेड़-बकरी चराता है तीसरा अनाज लाता है, चौथा सरकारी बेगार देता है। तब कहीं जाकर कुटुम्ब का निर्वाह होता है। यदि एक-एक मनुष्य अलग-अलग विवाह करके गृहस्थी चलावे तो इतने काम कैसे कर सके। अतः उसका जीना असम्भव हो जाय। इस सम्मिलित विवाह से दूसरा लाभ यह है कि घर में बहुत-सी स्त्रियों के आने से परस्पर ईर्ष्या-द्वेष और फूट की अग्नि प्रज्वलित नहीं होती और कुल नष्ट होने से बच जाता है।

इन लोगों में एक और प्रकार का भी विवाह होता है। उसे किन्नर भाषा में "डबडब" कहते हैं। इसकी विधि यह है—यदि लड़की किसी के साथ विवाह करना स्वीकार कर ले, परन्तु उसके माता-पिता राजी न हों, तो लड़की को अकेली पाकर वर अपने एक दो-मित्रों की सहायता से जबरदस्ती उठा ले जाता है। ले जाने के समय यदि लड़की के पास उसकी सहेलियाँ हों और वे उसे छुड़ाने के लिए दौड़ें तो वर के मित्र उन्हें एक-एक दो-दो रुपये देकर उनसे पिण्ड छुड़ा लेते हैं। लड़की को घर ले जाकर उसके साथ नियमपूर्वक विवाह किया जाता है। यदि वह लड़के के घर जाकर विवाह करना पसन्द न करे तो वह अपने पिता के घर वापस भेज दी जाती है।

सब जायदाद बड़े भाई को मिलती है। वह अपने सिर पर लम्बी चोटी रखता है। बाकी के सब भाई सिर मुँड़ाते हैं।

इस प्रान्त की स्त्रियाँ हमारी स्त्रियों के सदृश परा-वलम्बिनी नहीं। वे पुरुषों से बढ़कर काम करती हैं। पुरुष केवल हल जोतते हैं। शेष काम बीज डालना, निकाई करना, काटना, माँडना इत्यादि—स्त्रियाँ ही करती हैं। सरकारी आज्ञा से प्रत्येक पुरुष को अपनी बारी पर बेगार भुगतनी पड़ती है। कभी-कभी पुरुष की बारी आने पर स्त्रियाँ ही बेगार कर आती हैं। स्त्रियाँ यहाँ की स्वतन्त्र कमाई करती हैं। इसलिए, विवाह हो जाने पर भी, पुरुष स्त्री पर अत्याचार नहीं कर सकता। यदि पति पतित हो जाय, व्यभिचारी हो जाय, अथवा स्त्री पर अत्याचार करे तो पत्नी उसका परित्याग कर देती है। ऐसे अवसर पर एक विशेष संस्कार किया जाता है, जिसे किन्नर भाषा में "शिंग टकाशमें" कहते हैं। पहले प्रति-ष्ठित लोगों की एक पंचायत जोड़ी जाती है। उसमें पति और पत्नी अपनी-अपनी शिकायतें पेश करते हैं। तब पंच लोग शिकायतों को दूर करके दोनों को पुनः प्रीति-पूर्वक रहने का उपदेश करते हैं। यदि दोनों मान गये तो अच्छा, नहीं तो एक लकड़ी का एक सिरा स्त्री के हाथ में और दूसरा पुरुष के हाथ में पकड़ा दिया जाता है। तब वह लकड़ी बीच से तोड़ दी जाती है। इसका यह

अर्थ होता है कि जाव, तुम्हारा विवाह-सम्बन्ध टूट गया, अब तुम दोनों स्वतंत्र हो। जिससे चाहो पुनः विवाह कर सकते हो।

इन लोगों का गृह-जीवन बड़ा आनन्दमय है। चाय पीते और भोजन करते समय गृहिणी नमकीन चाय की देगची सामने रख लेती है। सारा परिवार पंक्ति बाँध-कर उसके चारों ओर बैठ जाता है। वह प्यालियों में चाय डालती जाती है और वे पीते जाते हैं। एक घूंट पी लेते हैं, फिर प्याली को भूमि पर रखकर बातें करने लग जाते हैं। प्याली में चाय न रह जाने पर किसी को माँगने की आवश्यकता नहीं होती, गृहदेवी स्वयं सब का ख्याल रखती है। प्याली खाली नहीं होने पाती कि उसमें वह और चाय डाल देती है। इस समय ये लोग, कंगाल होकर भी, चक्रवर्ती से प्रतीत होते हैं।

प्रत्येक घर में एक लड़की और एक लड़का प्रायः उम्र भर ब्रह्मचारी रहता है और अपने जीवन को धर्म- सेवा में लगाता है। किन्नर भाषा में ब्रह्मचारिणी लड़की को "जोमो" और ब्रह्मचारी लड़के को "लामा" कहते हैं। सब प्रकार के विषय-विकारों से बचे रहना इनके लिए आवश्यक है।

भाद्रपद में कन्नौर में एक भारी जातीय उत्सव होता है जिसे "फुलायच" कहते हैं। इस मेले में खूब राग-रंग और नृत्य होता है। इस उत्सव के साथ वर्ष भर के सारे शोक और आत्मीय जनों की मृत्यु के कारण पैदा हुए सब दुःख दूर कर दिये जाते हैं। सारी जाति शोक के वस्त्र उतारकर आमोद की पोशाक पहन लेती है। साल में इनके यहाँ भिन्न-भिन्न अवसरों पर कोई दस मेले होते हैं जिनमें ये लोग खूब खाते-पीते और गाते-बजाते हैं। उत्सव के दिन खान-पान की सामग्री लेकर स्त्री-पुरुष सब जंगल में चले जाते हैं। सारा दिन वहाँ खेलकूद में व्यतीत करके सायंकाल घर लौट आते हैं।

१९१५

❀ ❀ ❀

शिक्षा किस भाषा में दी जानी चाहिए?

श्री श्रीप्रकाश, बार ऐट ला

शिक्षा ग्रहण करने की इच्छा दो कारणों से होती है। पहला कारण है मनुष्य की ज्ञान-पिपासा। शिक्षा-प्राप्ति से उसे कई प्रकार का ज्ञान-लाभ होता है। इसका कारण है जीविका-निर्वाह। शिक्षा ग्रहण कर चुकने पर जीविका की प्राप्ति में सुभीता होता है। इस समय हमारे देश के प्रायः सभी विचारवान् पुरुष यह सोच रहे हैं कि हमको किस प्रकार की शिक्षा दी जाय जिससे इन दोनों उद्देश्यों की पूर्ति हो। क्योंकि प्रचलित शिक्षा-प्रणाली उनके साधन में समर्थ नहीं! हम देखते हैं कि दस-दस पन्द्रह-पन्द्रह वर्ष स्कूलों और कालेजों में शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् भी हम बहुत ही थोड़ा ज्ञान-संचय कर पाते हैं। यहाँ तक कि मुख्य-मुख्य अनेक ज्ञानांशों से हम नितांत अन-भिज्ञ ही रहते हैं। अब तो एक और भी कठिनाई उपस्थित हो गई है। जिन-जिन जीविकाओं से वर्तमान शिक्षित लोगों का निर्वाह होता था उनके भी दरवाजे हमारे लिए बन्द हो रहे हैं। वर्तमान विश्वविद्यालयों के सदोष साँचे में ढले हुए ताजे बी० ए०, एम० ए० को सरकारी नौकरी या वकालत करने या शिक्षक की जगह तक प्राप्त करने में धीरे-धीरे अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ उपस्थित हो रही हैं। इस लेख में हम शिक्षा के दूसरे उद्देश—जीविका-निर्वाह के सम्बन्ध में कुछ अधिक न कहेंगे। हम तो यही बताना चाहते हैं कि ज्ञान की वृद्धि, जो शिक्षा प्राप्त करने का आदि और सर्वोच्च उद्देश है, किस प्रकार की शिक्षा से हो सकता है और प्रचलित शिक्षा-प्रणाली में क्या दोष है जिससे हमारा ज्ञान-भाण्डार इतना रिक्त रह जाता है।

मुझे जो सबसे बड़ा दोष देख पड़ता है वह है अपनी मातृ-भाषा के द्वारा शिक्षा का न दिया जाना। इसी कारण हम जिन-जिन विषयों को पढ़ते हैं उनको ठीक-ठीक नहीं समझ सकते। किस भाषा के द्वारा शिक्षा देनी चाहिए, इस प्रश्न का एक ही उत्तर है मातृ-भाषा। विद्यार्थी को उसी